

जुलाई 2013 मूल्य: 20 रुपए

सामयिक वार्ता

देश में देश का उपनिवेश



राज्य-सत्ता बनाम लोक-सत्ता

- मानव-निर्मित सूखा □ कंपनियों की झोली में मुंबई के स्कूल
- नवाज राज में क्या बदलेगा □ परमाणु विकिरण के फर्जी आंकड़े
- आदिवासियों की त्रासदी □ पश्चिमी घाट का पर्यावरणीय घोटाला

महाकाव्य की धारियां

श्याम अविनाश

गीत रचती वे कितनी अद्भुत औरतें थी, अकबर
गूथा था उनका समय गीतों की अदृश्य लड़ी में

कोई भी मौसम हो या महीना
वे गाती थीं उसके गीत
चैत्र में चैती और सावन में कजरी
झूले में पेंग लेती जब वे भरती थीं सुर
बादल सुनने को झुक आते थे नीचे
बरसते थे रीझ कर

फाल्गुन तो होता ही है महीना होरी का
घाघरों में घुमेरों में घूमतीं
वे गाती थीं- सांवरियां कैसे जाएं तुम्हारी नगरिया -
तब अपने आप हवाओं में उड़ने लगते थे रंग

महीने तो बहुत दूर- वे तो
एक-एक तिथि पर गाती थीं
तीज हो या पूनो, वे चौथ को
भी सजाती थीं गीतों से

त्योहारों की तो बात ही क्या
वे तो होते ही हैं गाने बजाने के लिए
वे तो गाती थीं उपवास के दिनों में भी
पीपल पूजने जाना हो या कुआ पूजने
जाया करती थीं - गाते हुए ही
बच्चा हुआ तो सोहर गाने ही हैं
वे तो उसकी उम्मीद पर भी गाती थी-
ब्याह तो खैर होते ही थे
बन्ना-बन्नी के लिए, घुड़-चढ़ी के लिए
वे तो सगाई पर भी गाती थीं
मेंहदी रचाई पर भी...
बेटी को विदा करते हुए वे
आंसुओं में गाती थीं
और बहू घर आ जाए तो पांवड़े बिछाकर -

ननद को निरख कर गाती थीं
और पीछे-पीछे जाते ननदोई को भी देखकर
ऐ ननद, दो मुट्ठी चावल और डाल हांडी में
ननदोई आज आया है बाड़ी में-
जंवाई घर आए तो परोसती थीं थालियां
गीतों के साथ और सालियां डाल देती थीं
जीजा के नखरे में गीतों का गरम मसाला

वे भावज के लिए गाती थीं
और भाई के लिए भी
प्यार में तो कुदरत भी गाने लगती है
उन्हें तो गाना ही था
विरह रात की नदी वे गीतों की नाव में
करती थीं पार
नदी जो उन्हीं के आंसुओं से बनी होती

परदेस में पिया हो तो उड़ाती थीं
पक्षियों के साथ गाकर संदेश
पेड़ों से लिखवा लेती थीं गीतों में पातियां

धुनों में इठलाती वे पनघट पर भरती थीं जल
और जाती थीं खेल तो बजते थे सुर
चूड़ियों के साथ
धान की रोपनी तो शुरू ही होती थी
गीतों के संग और पौधों के साथ
वे धरती में रोपती जाती थीं शब्द और सुर
फसल जब तक पक जाती, पक जाते थे गीत
झनझनाने लगते थे सूरज रंग के धान में
काटकर जिन्हें फूलों के साथ वे ले आती थीं घर
ढेंकी पर जब कूटती थीं धान तो
उठान भर छा जाता
कोई सौधा-सा उदास गीत टूसू का

वे ठाली होती थीं तो गाने लगती थीं पैर फैला
और चक्की पीसते हुए न गाओ तो क्या हाथ चलते हैं
रात उनकी लोरी के साथ उतरती थी रूपकथाएं
शैशव की नींद में

वे हर हंसी और हर अवसर पर गाती थीं
देश के हर हिस्से और हर घर के कोने अंतरे में
फैली थी उनकी गुनगुनाहट
और दुख तो उनकी पोर पोर में बसा था
बिना गीतों के पार कैसे पातीं

वे दिनरात खटती, पजती अधखाई औरतें
पता नहीं कैसे इतना गाती थीं-
दुनिया की हर धुन और हर कविता की मां
वे बेनाम बेपट्टी खामोश औरतें

सामयिक वार्ता

जुलाई 2013, वर्ष 36, अंक 11-12

संस्थापक संपादक: किशन पटनायक

संपादक: सुनील

उपसंपादक: बाबा मायाराम

संपादन सहयोग:

सत्येन्द्र रंजन, अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन,
प्रियदर्शन, अरुण त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

परामर्श मंडल:

सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया,
योगेन्द्र यादव, कश्मीर उप्पल

प्रबंधक: चंद्रशेखर मिश्रा

कार्यालय: सामयिक वार्ता, द्वारा चंद्रशेखर
मिश्रा, दूसरी लाइन, इटारसी, जिला
होशंगाबाद, म.प्र. पिन 461111

फोन: 09425040452, 9424437330

(संपादन) 09993737039 (प्रबंध)

ई-मेल varta3@gmail.com

आवरण चित्र: पाब्लो पिकासो

सदस्यता शुल्क

वार्षिक शुल्क: 100 रूपए

संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200 रूपए

पांच वर्षीय शुल्क: 600 रूपए

आजीवन शुल्क: 2000 रूपए

सदस्यता शुल्क चेक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा
'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के नाम से दफ्तर के पते
पर भेजें।

सदस्यता/सहायता/एजेंसी की राशि कोर बैंकिंग
के जरिए पंजाब नेशनल बैंक में कहीं भी उपरोक्त
नाम से खाता क्रमांक **3979000100117987** में
जमा कर सकते हैं। जमा करने की सूचना और
अपना पता हमें पत्र से अवश्य भेजें। आप पहले
से वार्ता के ग्राहक हैं लेकिन वार्ता आप तक
नहीं पहुंची हो तो एक पोस्टकार्ड डालकर हमें
भूल-सुधार का मौका दें।

इस अंक में

12

अंदर के उपनिवेश

सच्चिदानंद सिन्हा

16

राज्यसत्ता बनाम लोकसत्ता

रविकिरण जैन एवं अंशु मालवीय

21

मानव निर्मित सूखा

परिणीता दांडेकर एवं हिमांशु ठक्कर

24

कंपनियों की झोली में मुंबई के स्कूल

अनिल सद्गोपाल

26

आदिवासियों की त्रासदी

रामचंद्र गुहा

28

नवाज राज में क्या बदलेगा

सत्येन्द्र रंजन

31

किस्सा विकिरण के फर्जी आंकड़ों का

सुरेन्द्र गाडेकर एवं संघमित्रा देसाई

34

पश्चिमी घाट का पर्यावरणीय घोटाला

माधव गाडगिल

37

समतावादी सुधारक की विरासत

इरफान इंजीनियर

43

मिलकर नई दुनिया बनाएंगे

समाजवादी जन परिषद

48

गुस्सा

कामायनी

50

नियमगिरि को बचाने का संघर्ष

लिंगराज

52

मारुति मजदूरों का दमन

सुनील कुमार

मोदी का मॉडल

‘गुरु गुड़ रह गया, चेला शक्कर हो गया’ – यह कहावत आडवाणी-मोदी प्रसंग पर बखूबी लागू होती है। इस प्रसंग में चेला न केवल शक्कर हो गया, उसने गुड़ को लात मारने में भी कोई संकोच नहीं किया। दिलचस्प बात यह है कि जिस गोवा में भाजपा की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने आडवाणी के विरोध को दरकिनार करके नरेन्द्र मोदी का राजतिलक किया, 11 साल पहले उसी गोवा में उसी तरह की बैठक में आडवाणी ने मोदी को बचाया था। अटलबिहारी वाजपेयी जैसे लोग 2002 की गुजरात हिंसा से खफा थे और मोदी को हटाना चाहते थे। तब मोदी आडवाणी के आदमी थे। भले ही आज मोदी-आडवाणी में टकराव हो गया हो, नरेन्द्र मोदी सही मायने में आडवाणी की उसी राजनीति व रणनीति की उपज है जो राम जन्मभूमि की रथयात्रा से शुरू हुई थी।

आखिर भारतीय राजनीति को दूसरे मुद्दों से हटाकर मंदिर-मस्जिद के इर्दगिर्द केंद्रित करने और इसके जरिये संसद में 2 की संख्या के न्यूनतम स्कोर पर पहुंच गई भाजपा को 182 सांसदों तक पहुंचाने का श्रेय आडवाणी को ही जाता है। अटल बिहारी वाजपेयी तो मुखौटा थे, जैसा कि गोविंदाचार्य ने हमें बताया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तो अपनी कोशिश में लगा ही रहता है, लेकिन यह आडवाणी थे जिनके चलते 1947 के घाव भरने के साथ जो सांप्रदायिकता भारत में हाशिए पर जाने लगी थी उसे नई जान और नई ऊर्जा मिल गई। यह अलग बात है कि गठबंधन राजनीति के अनुभव ने आडवाणी और भाजपा को सिखाया कि सत्ता में आने के लिए उसे राममंदिर व धारा 370 जैसे मुद्दों को ताक में रखना पड़ेगा और धार्मिक कट्टरता की राजनीति को कम करना पड़ेगा। राम जन्मभूमि के जिस अभियान ने भाजपा की संख्या को संसद में बढ़ाया था, वही उसकी सीमा और दीवार भी बन गई, जिसके आगे जाना मुश्किल हो गया।

दरअसल, भारतीय जनता पार्टी को दो विपरीत ध्रुव अपनी ओर खींच रहे हैं। उसका जन्मदाता और पिता राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ चाहता है कि वह हिंदू राष्ट्र की मुहिम को आगे बढ़ाए। दूसरी ओर भारतीय लोकतंत्र की

मजबूरियां उसे प्रेरित करती हैं कि वह कभी गांधीवादी समाजवाद, कभी स्वदेशी, कभी भूख-भय-भ्रष्टाचार से मुक्ति या सुशासन जैसे गैर-धार्मिक, गैर-सांप्रदायिक नारों को उछाले। कम से कम उसका कट्टरता वाला चेहरा ढका रहे, खुलकर सामने न आए। इसीलिए नरेन्द्र मोदी और उनके समर्थक भी घोषित रूप से राजनीति विकास के नाम पर ही करना चाहते हैं, धर्म के नाम पर नहीं। उनको मालूम है कि खुलकर धार्मिक कट्टरता की राजनीति भारतीय लोकतंत्र में चल नहीं पाएगी। लेकिन 2002 की गुजरात की हिंसा इतनी बड़ी और भयानक घटना थी कि वह नरेन्द्र मोदी का पीछा नहीं छोड़ती।

भाजपा का अंदरूनी संकट

इस वक्त भाजपा के सामने एक और संकट है। यह संकट नेतृत्व का तो है ही, नीतियों, मुद्दों और विचारधारा का भी संकट है। 1999 से 2004 तक केन्द्र में सत्तासीन रहने के बावजूद वह देश को कोई नई व्यवस्था और देश की जनता को कष्टों से राहत नहीं दे पाई। ‘इंडिया शाइनिंग’ को उसका प्रचार चुनाव में बुरी तरह फ्लॉप हो गया। अब पिछले नौ सालों से कांग्रेस नेतृत्व वाली सरकार के लगातार जन-विरोधी कामों और जबरदस्त घोटालों के बावजूद विपक्ष के रूप में उसके पास देने के लिए कोई विकल्प नहीं है, कोई मुद्दा भी नहीं है। कर्नाटक ने यूपीए के भ्रष्टाचार के खिलाफ उसकी मुहिम की हवा निकाल दी है। वह भी ठीक उन्हीं वैश्वीकरण-उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों की हामी व अनुगामी है, जिन पर मनमोहन सिंह चल रहे हैं। ऐसी हालत में वह यूपीए के खिलाफ कैसे मुहिम चलाए और किन मुद्दों पर चलाए? भारतीय जनता पार्टी मुद्दा विहीन और किंकर्तव्यविमूढ़ हो चली है। आडवाणी, अरूण जेटली और सुषमा स्वराज भाजपा को इस दुविधा और ठहराव से निकालने में अक्षम साबित हो रहे हैं। ऐसी हालत में भाजपा कार्यकर्ताओं को नरेन्द्र मोदी ही तारणहार नजर आ रहे हैं। भाजपा कार्यकर्ताओं की जो कट्टरपंथी फासीवादी मानसिकता है, उसमें वह बिल्कुल फिट भी बैठते हैं। मोदी की छवि ईमानदार,

सख्त और कड़क नेता की है जिसने गुजरात में कथित रूप से विकास करके दिखाया है और जो मौका आने पर मुसलमानों को सबक भी सिखा सकता है। भाजपा को और क्या चाहिए?

भारतीय लोकतंत्र का विशिष्ट चरित्र

लेकिन मोदी के नेतृत्व में भाजपा जिस राह पर चल रही है, वह उसे दिल्ली की गद्दी पर नहीं पहुंचा सकेगी। कम से कम जब तक भारतीय लोकतंत्र मौजूदा स्वरूप में कायम रहेगा, तब तक यह बात तयशुदा है। यदि संयुक्त राज्य अमरीका जैसा लोकतंत्र भारत में होता, तब मोदी की राह आसान होती। उसमें चुनाव बहुत हद तक राष्ट्राध्यक्ष पद के दो उम्मीदवारों, उनके व्यक्तित्वों और उनकी खूबियों-कमियों तक सीमित हो जाता है। उसमें निश्चित ही नरेन्द्र मोदी राहुल गांधी से बीस साबित होते। इसलिए भाजपा के समर्थक बीच-बीच में राष्ट्रपति शासन प्रणाली लाने की बात करते हैं। लेकिन भारत में चुनाव लोकसभा के 526 निर्वाचन क्षेत्रों में होता है जहां स्थानीय उम्मीदवारों के साथ स्थानीय व क्षेत्रीय मुद्दे और जातियों के समीकरण भी महत्वपूर्ण होते हैं।

भारत में बीच-बीच में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की मांग भी होती है जिसका मतलब है कि चुनाव उम्मीदवारों के बीच न होकर पार्टियों के बीच हो और पार्टियों को मिले वोट प्रतिशत के अनुपात में संसद या विधानसभा में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार उनको हो। यदि ऐसा होता तो भी नरेन्द्र मोदी को कुछ सुविधा होती। तब स्थानीय मुद्दों और समीकरणों का महत्व कम होता। भारतीय लोकतंत्र और उसकी मौजूदा प्रणाली की ओर चाहे जो कमियां हो, उसने यह सुनिश्चित कर दिया है कि छोटे समूहों और अल्पसंख्यकों को एक हद से ज्यादा अनदेखा नहीं किया जा सकता। उनके वोट भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इसीलिए मूलतः आरक्षण विरोधी मानसिकता वाली भाजपा जैसी पार्टियों को दलितों-पिछड़ों के आरक्षण का समर्थन करना पड़ता है। जिसे तिरस्कार से वोट बैंक या तुष्टिकरण की राजनीति कहा जाता है, उसने अभी तक भारत को पूरी तरह निरंकुश द्विज हिंदू पुरुषवादी सत्ता से बचाया है।

पिछले तीन दशकों से भारतीय राजनीति का चरित्र बदला है। द्विदलीय या त्रिदलीय व्यवस्था की जगह कई छोटे-छोटे क्षेत्रीय दलों के उदय ने गठबंधन की जिस

राजनीति को जन्म दिया है, उसने भी इसमें मदद की है। उसने भारतीय राजनीति के बहुलतावादी चरित्र को बरकरार रखा है। यदि मोदी के नेतृत्व में भाजपा इसे एक खास सांचे में ढालना चाहेगी तथा अल्पसंख्यकों, पिछड़ी जातियों, विविध भाषा समूहों और पिछड़े इलाकों की आकांक्षाओं को दबाना या उपेक्षित करना चाहेगी तो उसे सीमित सफलता ही मिल पाएगी।

लेकिन एक स्थिति मोदी के पक्ष में है। वह है पिछले दस सालों में कांग्रेस नेतृत्व वाली यूपीए सरकार के एक के बाद एक घोर जनविरोधी काम। महंगाई, बेरोजगारी, कंगाली, विस्थापन, निजीकरण की विकृतियों, पर्यावरण नाश और भ्रष्टाचार की अति होने के बावजूद मनमोहन-सोनिया सरकार ने कोई सबक नहीं सीखा है और अभी भी 'सुधारों' को आगे बढ़ाने की बात कर रही है। इससे साधारण

जनता बुरी तरह त्रस्त हो गई है और उसमें बदलाव की चाह बलवती हो चली है। इसका फायदा मोदी को मिलेगा। वैसे भी हमारे देश में अवतारवाद की भावना काफी प्रबल है। लोग मुक्ति के लिए स्वयं संघर्ष करने के बजाए

*: भारतीय लोकतंत्र और
: उसकी मौजूदा प्रणाली
: की ओर चाहे जो कमियां
: हो, उसने यह सुनिश्चित
: कर दिया है कि छोटे
: समूहों और
: अल्पसंख्यकों को एक
: हद से ज्यादा अनदेखा
: नहीं किया जा सकता।
: उनके वोट भी महत्वपूर्ण
: हो जाते हैं।*

किसी जादुई व्यक्तित्व से चमत्कार की आस लगाते हैं। आंध्र प्रदेश में एन टी रामाराव और पश्चिम बंगाल में ममता बनर्जी का सत्ता में पदार्पण इन्हीं परिस्थितियों में हुआ था। इस अर्थ में मोदी को राजनीति में उभारने का श्रेय कांग्रेस के कुकर्मी को भी मिलेगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, आडवाणी और कांग्रेस तीनों ने मिलकर मोदी नाम की चीज को बनाया है।

भारत का बढ़ता हुआ शहरी मध्यम वर्ग इन्हीं परिस्थितियों में मोदी का मुरीद बन गया है, हालांकि गुजरात के बाहर देहातों, दलितों व गरीबों में मोदी का कोई आकर्षण नहीं है। मोदी के एक और प्रबल समर्थक हैं देशी-विदेशी कंपनियां और पूंजीपति। कांग्रेस की नैया डूबती देख वे मोदी पर दांव खेल सकते हैं। यदि अगली

लोकसभा में किसी को बहुमत नहीं मिला तो वे छोटे दलों और सांसदों को खरीदने में और नोटों के सूटकेस मुहैया कराने में भी मोदी की भरपूर मदद कर सकते हैं। लेकिन यह भी तभी होगा, जब मोदी की भाजपा कम से कम 200 सांसद अपने दम पर लेकर आए, क्योंकि अब नीतीश कुमार, नवीन पटनायक, चंद्रबाबू नायडू या ममता बनर्जी आसानी से उससे हाथ नहीं मिला पाएंगे। आखिर उन्हें अपने-अपने राज्यों में मुसलमानों के वोट भी तो लेने हैं!

मोदी का विकास:टोल की पोल

मोदी के गुजरात को विकास के मॉडल के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। लेकिन इसमें कोई ऐसी नई बात नहीं है जिसे बाकी देश में न आजमाया जा चुका हो। गुजरात की आर्थिक वृद्धि दर अच्छी रही हैं, लेकिन दूसरे कई राज्यों और बीच में पूरे देश की वृद्धि दर भी अच्छी रही है। गुजरात में बड़े पैमाने पर पर देशी-विदेशी पूंजी का निवेश हो रहा है, ऐसा प्रचार किया जा रहा है। इसमें भी वह अनूठा नहीं है। इन कंपनियों को किस तरह और किस कीमत पर आकर्षित किया गया है उसका एक उदाहरण टाटा का नैनो कार प्रोजेक्ट है जो पश्चिम बंगाल में सिंगूर से भगाए जाने के बाद मोदी के आमंत्रण पर गुजरात आया है। टाटा के साथ करारनामे को गुप्त रखा गया है, लेकिन जो जानकारी बाहर आई है, वह इस प्रकार है।

गुजरात सरकार ने टाटा के मोटर्स को 9750 करोड़ रु. का विशाल कर्ज मात्र 0.1 फीसदी ब्याज पर 20 साल के लिए दिया है। इस कारखाने के लिए बिजली शुल्क, जमीन का पंजीयन शुल्क और स्टॉप शुल्क पूरी तरह माफ कर दिया गया है। गुजरात सरकार ने इस कारखाने तक 4-लेन सड़क, प्राकृतिक गैस की पाईपलाईन, कचरा निपटाने का संयंत्र भी अपनी कीमत पर बनाने का करार किया था। कारखाने के लिए मामूली कीमत पर जमीन देने के अलावा टाउनशिप के लिए अहमदाबाद के पास 100 एकड़ जमीन भी देने की व्यवस्था मोदी सरकार ने की।

जहां कंपनियों को इतने उपहार दिए जा रहे हैं, वहां साधारण जनता के हित तो प्रभावित होंगे ही। दूसरे राज्यों की तरह महुआ (निरमा सेज), मीठीवर्दी (परमाणु बिजली संयंत्र), भावनगर (मुन्द्रा सेज), अहमदाबाद (ऑटो हब) जैसे कंपनी बनाम स्थानीय जनता के संघर्ष गुजरात में भी चल रहे हैं। बड़े पैमाने पर खेती की उपजाऊ

जमीन के साथ गोचर भूमि कंपनियों को दी जा रही है और इसमें गोरक्षा की बात करने वाले संघ परिवार को कोई परेशानी भी नहीं हो रही है। सरदार सरोवर बांध को गुजरात की जीवन रेखा बताकर उन्माद पैदा किया गया था, लेकिन नर्मदा की नहरों का पानी किसानों से हटाकर उद्योगों को दिया जा रहा है। 24 घंटे बिजली आपूर्ति का बहुत हल्ला है, लेकिन किसानों को 6 से 10 घंटे ही बिजली मिल पा रही है। किसानों की आत्मदाह में गुजरात एक अग्रणी प्रदेश है। आदिवासियों के बड़े-बड़े प्रदर्शन पिछले समय में सूरत और नर्मदा जिलों में हुए हैं।

यह बात चर्चा में बार-बार आई है कि शिक्षा, बीच में स्कूल छोड़ने की दर, कुपोषण, बाल मृत्युदर, मातृ मृत्यु दर, लिंग अनुपात, न्यूनतम मजदूरी आदि के मामले में गुजरात की स्थिति

बहुत अच्छी नहीं है।
 मानव विकास सूचकांक में भी गुजरात आगे नहीं है।
 ज्यादा पूंजी निवेश या ऊंची आर्थिक वृद्धि साधारण गरीब जनता की बेहतरी में प्रकट नहीं होती है, यह गुजरात में भी दिखाई दे रहा है और राष्ट्रीय स्तर पर भी दिखाई

दे रहा है। यानी मोदी के पास कोई नया विकास मॉडल नहीं है। मनमोहन सिंह के कुशलता, ज्यादा सख्ती या ज्यादा तानाशाही से लागू करने का वादा कर रहे हैं। मनमोहन, मोदी, ममता, नीतीश, नवीन पटनायक सबके विकास मॉडल एक ही हैं, यह मौजूदा भारतीय राजनीति की एक विडंबना है। इस मायने में भारतीय राजनीति में जबरदस्त विकल्पहीनता छाई है।

एक और बात है। वह यह कि भारत में जिस तरह के अधिकचरे पूंजीवाद का विकास हुआ है उसमें क्षेत्रीय विषमता काफी बढ़ी है। औद्योगीकरण और विकास के फायदे महाराष्ट्र, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, केरल जैसे कुछ इलाकों को मिले हैं और देश का बाकी विशाल हिस्सा पिछड़ेपन, बेकारी और कंगाली से ग्रस्त रहा है। (सामयिक वार्ता के इसी अंक में सच्चिदानंद

सिन्हा का लेख आंतरिक उपनिवेश की प्रक्रिया को भलीभांति समझाता है।) फिर गुजरात को केरल या पंजाब की तरह कच्छ-सौराष्ट्र के लोगों द्वारा बड़े पैमाने पर विदशों से कमाकर पैसा भेजने का भी फायदा मिला है। इसलिए गुजरात की बेहतर आर्थिक हालत में मोदी की कोई बहादुरी नहीं है। और इसीलिए गुजरात के मॉडल को बाकी देश की जमीन पर लागू नहीं किया जा सकता। उसके लिए नए मॉडल, नई सोच और नई समझ की जरूरत होगी।

फर्जी मुठभेड़ें, हत्याओं को इनाम

विकास और सुशासन के गुजरात के मोदी मॉडल की और विशेषताएं हैं, जिनकी ओर ध्यान देना जरूरी है। जैसे फर्जी मुठभेड़ों में गुजरात ने काफी नाम कमाया है। भारतीय गणराज्य में फर्जी मुठभेड़ें तो पहले भी और दूसरी जगह भी होती रही हैं। लेकिन आम तौर पर 'मुठभेड़ विशेषज्ञ' इंस्पेक्टर किस्म के लोग रहे हैं। गुजरात में पहली बार बड़ी तादाद में आईपीएस अफसर, डीआईजी और आईजी श्रेणी के अफसर, फर्जी मुठभेड़ों के मामलों में पकड़ाए हैं और जेल गए हैं। यहां तक कि मोदी सरकार का गृहमंत्री अमित शाह भी इस मामले में जेल गया है। उसी अमित शाह को उत्तरप्रदेश का प्रभारी बनाकर भाजपा ने संकेत दिया है कि अपराधियों और अभियुक्तों को आगे बढ़ाने में उसे कोई दिक्कत नहीं है।

यह भी गौरतलब है कि गुजरात हिंसा के जिस एकमात्र मामले में अदालत का फैसला आया है और सजा हुई है, उसकी प्रमुख अभियुक्त माया कोडनानी को नरेन्द्र मोदी ने अपने मंत्रीमंडल में मंत्री बनाकर रखा था। नरोदा-पाटिया में 90 से ज्यादा लोग मारे गए थे, जिनमें 34 बच्चे और 32 महिलाएं थीं। इस भीड़ का नेतृत्व माया कोडनानी ने किया था, यह बात खुद गुजरात पुलिस ने उच्च न्यायालय में दिए अपने हलफनामे में कही थी। ऐसी हत्यारी महिला को पहले विधानसभा का टिकिट देकर और फिर महिला एवं बाल विकास मंत्री बनाकर मोदी क्या संदेश देना चाहते थे? ऐसा आदमी भारत के प्रधानमंत्री पद पर पहुंचकर क्या करेगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

विकास की बात करके नरेन्द्र मोदी और उनके समर्थक गुजरात की हिंसा और सांप्रदायिकता को ढकना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जो हुआ उसे भूल जाओ, आगे की सोचो। लेकिन घावों पर मरहम लगाने की कोई कोशिश भी उन्होंने नहीं की। आज तक 2002 की जिस हिंसा में

दो हजार से ज्यादा लोग मारे गए थे, बड़ी संख्या में बलात्कार हुए थे, घर जलाए व लूटे गए थे, उसके बारे में नरेन्द्र मोदी ने एक बार भी माफी मांगने की जरूरत नहीं समझी। उसके बाद गुजरात में दो विधानसभा के और दो लोकसभा के चुनाव हुए लेकिन मोदी ने एक भी मुसलमान को टिकिट नहीं दिया।

नरेन्द्र मोदी का यह एक चेहरा है। वह घमंडी हैं, उद्धत हैं, किसी के साथ सामंजस्य बिठाने की आदत उसमें नहीं है और विरोधियों को वह बिलकुल बरदाश्त नहीं करता है। गुजरात के ही संघ के एक और प्रचारक संजय जोशी की सीडी का प्रकरण लोगों का याद होगा। कहा जाता है कि उसमें नरेन्द्र मोदी का हाथ था। मोदी के एक मंत्री हरेन पंड्या की हत्या में मोदी का ही हाथ था, ऐसा आरोप उसकी विधवा आज भी लगा रही है। गुजरात के पूर्व भाजपाई मुख्यमंत्री केशुभाई पटेल को भी मोदी के चलते पार्टी छोड़ना पड़ा। इन्हीं कारणों से भारतीय जनता पार्टी के अंदर मोदी का काफी विरोध है। ऐसा व्यक्ति गठबंधन की राजनीति कर सकेगा, इसमें काफी शंका है।

मोदी के और भी गुण हैं। वह और उसके समर्थक आसानी से झूठ बोल सकते हैं, फैला सकते हैं। एक झूठ तो अभी पकड़ाया, जिसमें गोवा में मोदी ने कहा था कि मुझे आडवाणी का आशीर्वाद मिला है। अपना वोट बढ़ाने और उन्माद पैदा करने के लिए संघ परिवार के साथ मिलकर मोदी एंड कंपनी फिर अयोध्या जैसे कोई झगड़े खड़े कर सकती है। बड़े स्तर पर ऐसा उन्माद और देशी-विदेशी पूंजी व अमरीका का खुला समर्थन ही नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री पद तक पहुंचाने की स्थिति बना सकता है, अन्यथा सामान्य स्थिति में यह दूर की कौड़ी रहेगी।

कुल मिलाकर नरेन्द्र मोदी का मॉडल कंपनी आधारित विकास, सांप्रदायिकता और तानाशाही का मिला-जुला मॉडल है। इस मेल में फासीवाद की संभावना छिपी है क्योंकि पिछली सदी में यूरोप में हिटलर और मुसोलिनी का उदय इन्हीं परिस्थितियों में हुआ था। नई बात यह है कि इसे संघ परिवार के साथ संयुक्त राज्य अमरीका का आशीर्वाद भी मिल सकता है क्योंकि उदारवाद और लोकतंत्र का चैंपियन बनने वाले अमरीका ने अपने स्वार्थों के लिए मौका आने पर कई देशों में कट्टरपंथ और तानाशाहों को समर्थन व सहयोग दिया है। यदि अमरीका और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की चलेगी, तो मोदी आगे बढ़ेंगे। यदि देश की जनता की चलेगी तो मोदी के लिए दिल्ली दूर रहेगी।

यह क्रिकेट नहीं है

पूँजी, सट्टे और राजनीति का अनैतिक खेल बंद किया जाए

किसी अनुचित या अनैतिक तरीके को काम में लाए जाने पर अंगरेजी भाषा में जिस मुहावरे का अक्सर इस्तेमाल किया जाता है, वह है 'यह क्रिकेट नहीं है'। आईपीएल (इंडियन प्रीमियर लीग) के घोटालों और कांडों के मामले में बहुत सारे मुहावरों का इस्तेमाल हुआ लेकिन 'यह क्रिकेट नहीं है' मुहावरे का इस्तेमाल एकदम नदारद था। नदारद होने की वजह थी कि आईपीएल को क्रिकेट मान लिया गया था जब कि वह क्रिकेट ही नहीं था।

लीग में जो क्रिकेट खेला गया वह तो सिर्फ पैसों का खेल था और उसकी सारी अवधारणा ही ठगी और पूँजीवादी मनोरंजन-तनोरंजन की थी। अगर आईपीएल, क्रिकेट होता तो वह जाड़ों में दिन में सूरज की रोशनी में खेला जाता और बादल घिर जाने पर रोशनी के मंद पड़ जाने पर बंद हो जाता, उसमें पूर्व सोवियत उपनिवेशों से लाई गई दो-ढाई सौ अमरीकी डालर की दिहाड़ी पर नाचने वाली नर्तकियों का मुजरा नहीं होता, रणनीति पर पुनर्विचार करने के लिए 600 करोड़ रुपए का विराम नहीं होता, क्रिकेट खिलाड़ी गुलामों की तरह नीलाम नहीं किए जाते।

आईपीएल को क्रिकेट के बजाए देश व समाज को एकदम भुलाकर सिर्फ अपने व्यक्तिगत हित के लिए सत्ता का उपभोग करना चाहने वाली हमारे देश की सत्ता राजनीति का आदमकद आइना कहना ज्यादा सही होगा। आईपीएल के कमिश्नर राजीव शुक्ल का क्रिकेट से क्या वास्ता है? अरूण जेटली का क्रिकेट से क्या नाता है? शरद पवार ताल ठोंक कर क्या यह कहेंगे 'मेरा क्रिकेट से रिश्ता है, मेरे श्वसुर सदाशिव गनपत शिंदे टेस्ट मैच खेले हुए हैं।'

श्रीसंत और श्रीनिवासन के दामाद के मामले सामने आए तो पहली मांग आईपीएल के कमिश्नर राजीव शुक्ल के इस्तीफे की और दूसरी मांग श्रीनिवासन इस्तीफे की होनी चाहिए थी। लेकिन हुआ क्या? राजीव शुक्ल ने पवन बंसल की तरह कोई चारा न रह जाने पर इस्तीफा दिया। शुक्ल और जेटली की जोड़ी ने बताया कि जहां

तक क्रिकेट (राष्ट्र) के हित का सवाल है कांग्रेस और भाजपा में कोई विरोध नहीं है। (शुक्ल के साले रविशंकर प्रसाद तो भाजपा के एक प्रवक्ता हैं) कुछ साल पहले भ्रष्टाचार के आरोपों में घिरे अरबपति जगमोहन डालमिया अब क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड के अंतरिम अध्यक्ष बनाए गए हैं तो दिशा और समय सीमा रहित जांच पूरी होने तक दूसरे अरबपति श्रीनिवासन 'स्थगित' अध्यक्ष पर बने हुए हैं।

आईपीएल ने हमें क्या-क्या नजारे नहीं दिखाए-नाच, नाटक, प्रहसन खेल के मैदान पर और पांच सितारा होटलों में गुप्त मंत्रणाएं और लेन देन के सौदे। सत्ता का उपभोग करना चाहनेवाली राजनीति के हथकंडों और आईपीएल के हथकंडों का साम्य इतना ज्यादा है कि क्या-क्या गिनाया जाए? वहां भी अंबानी और आईपीएल में भी अंबानी। मशहूर क्रिकेटर्स की उठ-बैठ भी मंत्रियों तरह बड़े-बड़े उद्योगपतियों, अपराध जगत की हस्तियों और फिल्मी सितारों के साथ है। यह पता नहीं कि अरूण जेटली दस लाख रुपयों की घड़ी अपनी कलाई पर भाजपा नेता की हैसियत में बांधते हैं या क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड की हैसियत में। कोई कहेगा नहीं, वह तो वकील की हैसियत में बांधते हैं। क्या हमारे किसी जन प्रतिनिधि का दस लाख की घड़ी बांधना नैतिक है, क्या किसी खिलाड़ी का अपने खेल से करोड़ों रुपए कमाना नैतिक है? कहा जा सकता है कि ये तो किसी एकदम मतिमंद गंवार के सवाल हैं। जेटली, तेंदुलकर, धोनी अपनी प्रतिभा के चलते कमाते हैं और उन्हें इस उपभोग का पूरा हक है। एक कंपनी, जो खिलाड़ियों के हितों का ध्यान रखती है यानी क्रिकेट से उनकी कमाई बढ़ाने का उद्यम करती है, उसमें भारतीय कप्तान महेन्द्र सिंह धोनी के हिस्सेदार होने में क्या बुराई है, इसमें कहां किस के हितों में टकराव होता है? यह तो हितों का मिलाप है- भरत मिलाप है।

आईपीएल एक प्रहसन था सो उसके बारे में लिखना कहीं न कहीं प्रहसन होने को बाध्य है। इस

प्रहसन के बारे में हिंदुस्तान टाइम्स के स्तंभकार प्रदीप मैगजीन ने बहुत पते की बात लिखी है कि हमारे समाज में अपराध की और उसकी शीघ्र सजा दिए जाने की अवधारणा एकदम गायब हो गई है। श्रीनिवासन तब तक स्थगित अध्यक्ष रहेंगे जब तक उनके दामाद के चेन्नई सुपर किंग्स के मालिक होने के बारे में श्रीनिवासन द्वारा ही नियुक्त न्यायाधीश कोई फैसला नहीं करते। फैसला कब होगा? इसके लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई।

इतना सब कुछ हो जाने के बाद क्या होगा? 2000 के मैच फिक्सिंग के मामले के बाद क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड ने एक 12 सूत्री 'भ्रष्टाचार परिष्कार अभियान' छेड़ने की घोषणा की थी जिसे 'भारतीय क्रिकेट के दूरदर्शी स्वप्न (विजन) का घोषणा-पत्र (स्टेटमेंट)' जैसा बड़बोला नाम दिया गया था। इसमें क्रिकेट के नैतिक मूल्यों को संजोए रखने और उनकी रक्षा करने का वायदा किया गया था। इस वायदे का क्या हश्र हुआ वह तो हम देख ही रहे हैं। यही नहीं 2012 में आईपीएल में कुछ गैर मशहूर खिलाड़ी सटोरियों से पैसे लेते हुए पकड़े गए थे। उनमें से एक को आजीवन क्रिकेट

कारावास की सजा भी दी गई थी। क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड की एक भ्रष्टाचार निरोधक और निगरानी समिति भी थी। वह क्या कर रही थी, यह तो समिति के सदस्य ही जानते होंगे।

अंतरिम अध्यक्ष डालमिया ने आईपीएल को भ्रष्टाचार मुक्त करने के लिए खिलाड़ियों को मैच के दौरान मोबाइल फोन पर बात न करने, मैच के बाद होने वाली देर रात की पार्टियों को और नर्तकियों का नाच बंद करने जैसे 'ठोस' सुझाव दिए हैं और साथ ही यह कहा है कि अगर रणनीति पर पुनर्विचार करने के लिए मैच के दौरान विराम की जो व्यवस्था है उसको समाप्त कर दिया गया तो बोर्ड को 600 करोड़ रुपए का घाटा होगा सो उसे अगले आईपीएल में भाग लेने वाली टीमों से ज्यादा राजस्व वसूल कर पूरा किया जा सकता है।

आईपीएल एक कलंक है उसे मिटा दिया जाना चाहिए, यह बोर्ड के एकमात्र विपक्षी नेता, बिंद्रा साहब भी नहीं कहते। आईपीएल को जड़मूल से नष्ट करने के साथ-साथ क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड के सभी कार्यों को सूचना के अधिकार के तहत लाना भारतीय क्रिकेट के कलंक को मिटाने की दिशा में पहला कदम होना चाहिए।

अभिनेत्री का ऑपरेशन

चिकित्सा, मुनाफारखोरी और कंपनीकरण का मेल मानव हित में नहीं है

एंजेलीना जोली हॉलीवुड की मशहूर अभिनेत्री हैं। ऑस्कर और कई नामी पुरस्कार जीत चुकी हैं। उनके स्तन निकालने का ऑपरेशन और उस पर उनका लेख पिछले दिनों काफी चर्चित रहा।

एंजेलीना की मां की मौत कैंसर से हुई थी। डॉक्टरों ने एंजेलीना की जांच की और पाया कि उनके शरीर में एक जीन है जो कैंसर का कारण बन सकता है। एंजेलीना को स्तन और अंडाशय का कैंसर होने का खतरा है। स्तन कैंसर की संभावना ज्यादा है, इसलिए उनके दोनों स्तनों के उतक और मांसपेशियां काटकर निकाल दिए गए और उनकी जगह दूसरे उतक - मांसपेशियों का प्रत्यारोपण

कर दिया गया।

दुनिया की शीर्षस्थ अभिनेत्री के लिए यह साहसपूर्ण फैसला था। अपने इस अनुभव को बताने और दूसरी महिलाओं को आश्वस्त करने के लिए एंजेलीना ने एक लेख लिखा और यह न्यूयॉर्क टाइम्स में छापा। भारत में 'द हिंदू' नामक अंगरेजी अखबार ने इसे 15 मई को छापा। लेकिन इस लेख से एक बहस छिड़ गई है। पहला सवाल तो इस जांच और ऑपरेशन की जरूरत और इसके औचित्य के बारे में उठा है। गौरतलब है कि एंजेलीना को कैंसर हुआ नहीं, होने की आशंका थी। कैंसर होने के पहले ही स्वस्थ स्तनों को काटकर निकाल देना कितना

उचित है? आज मेडिकल व्यवसाय में शरीर के अंगों को काटकर निकालने की बाढ़ आई हुई है। खासतौर पर महिलाओं की बच्चेदानी और अंडाशय को गाहे-बगाहे बिना खास जरूरत के निकाल दिया जाता है। अपेंडिक्स का अनावश्यक ऑपरेशन भी आम बात है। अब इसमें स्तनों के ऑपरेशन भी जुड़ गए जाएंगे।

फिर स्तन कैंसर को तो पता करना भी आसान है। इसकी शुरुआत गांठ से होती है जिसे महिलाएं स्वयं अपने हाथ से महसूस कर सकती हैं। जिनके परिवार में पहले स्तन कैंसर हुए हैं, वे सावधानी के बतौर साल में एक बार डॉक्टर को दिखाएंगी तो भी काफी है।

डॉक्टरों ने अमरीकी अभिनेत्री के शरीर में पाए गए बीआरसीए 1 जीन से उसे स्तन कैंसर की संभावना 87 फीसदी बताई। लेकिन जानकारों का कहना है कि यह अतिशयोक्ति है और सामान्यतया यह जोखिम 47 फीसदी यानी आधे से भी कम होता है। इन जीन के होने पर कैंसर होना जरूरी नहीं और कैंसर के कई और कारण भी हो सकते हैं।

समस्या यह भी है कि इस जीन की जांच वाला टेस्ट काफी महंगा है। खुद एंजेलीना जोली ने अपने लेख में स्वीकार किया कि संयुक्त राज्य अमरीका में बहुत महिलाएं इसका खर्च 3000 हजार डालर (करीब पौने दो लाख रुपए) वहन नहीं कर पाएंगी। भारत जैसे गरीब देशों में तो साधारण महिलाओं के लिए यह असंभव है। यह तो केवल जांच का खर्च है, ऑपरेशन का खर्च अलग है। हॉलीवुड हीरोईन ने अपने लेख का शीर्षक 'मेरी मेडिकल च्वाइस' दिया है। लेकिन यह च्वाइस या विकल्प दुनिया की 99 फीसदी महिलाओं को उपलब्ध नहीं है। पूंजीवादी अक्सर दावा करता है कि उसके तहत उपभोक्ता तो राजा है और अपनी पसंद से चयन कर सकता है। इस दावे का खोखलापन इस संदर्भ में भी देखा जा सकता है।

जीन की यह जांच इसलिए भी महंगी है क्योंकि मीरियाड जेनेटिक्स नामक एक कंपनी ने इसका पेटेंट ले रखा है। इस कंपनी को रायल्टी देने का करार करने वाले अस्पताल/प्रयोगशालाएं ही इस जांच को कर सकते हैं। इस पेटेंट के खिलाफ अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा भी चल रहा था। कई लोगों का मानना है कि इस जेनेटिक जांच का अपना धंधा बढ़ाने के लिए ही एंजेलीना

से यह लेख लिखवाया गया। इसके बाद सचमुच इसके बारे में अस्पतालों में दरयापत करने वालों की संख्या एकाएक बढ़ गई। एक मकसद सर्वोच्च न्यायालय के मुकदमे को प्रभावित करना भी हो सकता था। पूरे मामले में अरबों डालर के व्यवसाय के हित छिपे हैं।

एंजेलीना के लेख के एक महीने बाद सर्वोच्च न्यायालय का फैसला भी आ गया जिसमें इस पेटेंट को रद्द कर दिया गया। न्यायालय ने कहा कि कुदरती तौर पर पाए जाने वाले मानव जीन और डीएनए का पेटेंट नहीं हो सकता। हालांकि न्यायालय ने पूरी तरह मानव जीन के पेटेंट का निषेध नहीं किया। जीन के नए ज्ञान और जीन रूपांतर के नए तरीकों के पेटेंट की गुंजाईश न्यायालय ने छोड़ी है। कृत्रिम रूप से बने डीएनए का भी पेटेंट हा सकता है।

मानव जीन का पेटेंट अमीर दुनिया में बड़ा धंधा बन चुका है। मानव शरीर के 20 फीसदी जीन पहले से पेटेंट हो चुके हैं। इसी तरह फसलों और प्राणियों में भी जीन या जेनेटिक रूप से परिवर्तित बीजों व प्रजातियों के पेटेंट भी बड़ी संख्या में हो रहे हैं। जिस दिन एंजेलीना का लेख न्यूयॉर्क टाइम्स में छपा उसी दिन अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने मोनसेंटों कंपनी के सोयाबीन बीज पेटेंट को चुनौती देने वाले एक अमरीकी किसान के खिलाफ तथा कंपनी के पक्ष में फैसला सुनाया। इंसान, दूसरे प्राणियों या वनस्पति से संबंधित पेटेंटों को इजाजत देने और उनका प्रावधान करने से मुनाफों के लिए जीवन से खिलवाड़ करने का एक अनवरत सिलसिला चल पड़ा है। यह हमें कहां ले जाएगा, इसका ठिकाना नहीं है।

कुल मिलाकर बात यह है कि अपने अनुभव को साझा करके दूसरों को मदद करने के एंजेलीना जोली के इरादे नेक हो सकते हैं। लेकिन दुनिया का चिकित्सा व्यवसाय जिस तरह तेजी से मुनाफाखोर कंपनियों के चंगुल में आता जा रहा है, उनके इरादे नेक नहीं हैं। चिकित्सा, मुनाफाखोरी और कंपनीकरण के इस मेल से कई विकृतियां आ रही हैं। बहुसंख्यक मानव आबादी के लिए इसके संकेत अच्छे नहीं हैं, हीरोईनों और मुट्ठीभर करोड़पति-अरबपतियों की बात अलग है।

अभिनेत्री की आत्महत्या

फिल्मों की चमकीली दुनिया के पीछे अंधेरे कोने छुपे हैं

जिस देश में बीते 20 साल में करीब 2 लाख किसानों ने खुदकुशी की हो, वहां एक फिल्मी हीरोइन जिया खान की आत्महत्या का जिक्र फिर भी इसलिए जरूरी लगता है कि इसकी मार्फत उस चमकीली दुनिया के वे अंधेरे कोने खुलते हैं जो अपने चरित्र में मूलतः स्त्री विरोधी और समाज विरोधी दोनों हैं। मरने के पहले जो आखिरी खत जिया खान ने छोड़ा है, वह बहुत मार्मिक है- बताता है कि कैसे उन्हें इस फिल्मी दुनिया के एक बड़े परिवार के बेटे ने प्रताड़ित भी किया और धोखा भी दिया। वह एक टूटी हुई लड़की की आखिरी शिकायत है जिसे पढ़ते हुए शायद कई और ऐसी लड़कियों का खयाल आता है जो अपने दोस्तों या सहयोगियों द्वारा छली और प्रताड़ित की गईं- भले ही उन्होंने आत्महत्या न की हो।

जिया खान ने खुदकुशी क्यों की? इसलिए कि उसके आसपास कोई समाज नहीं था जो उसे संभालता। वह अमरीका में पैदा हुई, ब्रिटेन से भारत आई और महज 17 से 20 साल के भीतर उसने एक शोहरत, एक पहचान हासिल कर ली थी। निस्संदेह, वह एक विद्रोहिणी लड़की रही होगी, महत्वाकांक्षी भी, जिसे फिल्मी दुनिया ने यकीन दिलाया होगा कि वहां उसकी कद्र होगी। जिस पहली फिल्म 'निःशब्द' में उसने काम किया, उसमें भी वह सामाजिक-पारिवारिक वर्जनाएं तोड़ने के करीब पहुंची और अपनी दोस्त के पिता से ही प्रेम कर बैठी। लेकिन ऐसी दुस्साहसी दुनिया की कल्पना करने वाली फिल्मी दुनिया में ऐसी दुस्साहसी लड़की उस उम्र में जान दे बैठी, जो सपने देखने की होती है, यह त्रासदी इस पूरी दुनिया को सवालियों के घेरे में ला खड़ा करती है। संभव है जिया खान का मामला सिर्फ विफल रिश्ते का न रहा हो, वह अपेक्षित सफलता न मिलने का भी रहा हो जो हमारी दुनिया में धीरे-धीरे सार्थकता

का पर्याय बनती जा रही है, लेकिन इन सबने उसके भीतर अगर एक सांघातिक अवसाद पैदा किया तो इसलिए कि ऐसे अवसाद से लड़ने की प्रतिरोध क्षमता जिस समाज से मिलती है, वह जिया खान के आसपास नहीं था। अपने अकेलेपन में, अपनी नाकामी में, अपने साथ धोखाधड़ी में हम सब आत्महत्या नहीं कर लेते, क्योंकि हमारे कंधों पर हाथ रखने वाले कुछ लोग होते हैं जो बताते हैं कि हम वाकई अकेले नहीं हैं, कुछ लोग समझाने वाले होते हैं कि नाकामी वक्ती है, खत्म हो जाएगी, कुछ लोग मलहम लगाने वाले होते हैं कि जिंदगी बार-बार धोखा नहीं देगी। लेकिन 25 साल की जिया खान की दुनिया में शायद ऐसा हाथ नहीं बचा था।

इस चमकती हुई दुनिया में खुदकुशी करने वाली लड़की जिया खान अकेली नहीं है, कुछ साल पहले नफीसा जोसेफ और कुलदीप रंधावा नाम की दो मॉडलों ने भी अलग-अलग समय में अपने लिए यही आत्महत्या का रास्ता चुना। जिन्होंने नहीं चुना, उनमें से कुछ को इस दुनिया ने अकेले मरने को छोड़ दिया। परवीन बाँबी इसकी मिसाल है। इन सारी कहानियों के सबक एक ही हैं- फिल्मी परदे पर सजी-संवरी, कभी प्रेम की और कभी विद्रोह की मूरत दिखाई पड़ने वाली लड़कियां परदे के पीछे किसी और तरह की हकीकत झेलती हैं। लेकिन क्या यह मामला सिर्फ फिल्मी परदे का है? असल जीवन में भी हम लड़कियों के सामने बहुत विकल्प नहीं छोड़ते। हमें बस इतना मंजूर है कि या तो वे हमारे कहे मुताबिक अभिनय करें- कभी पारंपरिक होने का, कभी आधुनिक होने का- और इस अभिनय को सच की तरह जिएं, या फिर खुद को मार लें- कभी देश की लाखों-करोड़ों लड़कियों की तरह, जो घर के नाम पर अपनी सारी इच्छाओं को तिलांजलि दे देती हैं या फिर कभी जिया खान की तरह, जिसे इस अकेलेपन में एक जानलेवा अवसाद घेर लेता है।

अंदर के उपनिवेश

सच्चिदानंद सिन्हा

जिस तरह यूरोप में पूंजीवादी औद्योगीकरण उसके उपनिवेशों के प्राकृतिक संसाधनों और श्रम को लूटकर हुआ था, उसी तरह से अब दूसरे देशों में औद्योगीकरण के लिए उनके अंदर उपनिवेश बन रहे हैं। आंतरिक उपनिवेश की अवधारणा के प्रमुख प्रतिपादक सच्चिदानंद सिन्हा की कलम से इस अवधारणा को सरल तरीके से समझाता एक लेख।

सच्चिदानंद सिन्हा प्रखर समाजवादी चिंतक एवं लेखक हैं। हिंदी व अंगरेजी में कई पुस्तकों के लेखक। 'इंटरनल कालोनी' नामक उनकी पुस्तक सत्तर के दशक में प्रकाशित हुई थी।

पता:
ग्राम/पोस्ट मजिका,
जिला मुजफ्फरपुर,
बिहार

आंतरिक उपनिवेश की अवधारणा मूल रूप से इस अवधारणा का ही विस्तार है कि यूरोप के साम्राज्य और उपनिवेशों ने नए उद्योगों के आधार पर यूरोप में पूंजीवादी व्यवस्था के विकास और प्रसार की पृष्ठभूमि तैयार की। साम्राज्यों और उपनिवेशों की मौजूदगी यूरोप में पूंजीवाद के पनपने की पूर्व शर्त थी। लेनिन ने यह मत प्रतिपादित किया था कि साम्राज्यवाद, पूंजीवाद का अंतिम चरण है। डा. राममनोहर लोहिया ने लेनिन के इस मत का खंडन करते हुए जोर देकर कहा कि साम्राज्यवाद, पूंजीवाद का अंतिम चरण होने के बजाए यूरोप में पूंजीवादी व्यवस्था के विकास और प्रसार की पूर्व शर्त था। इसके पहले दादा भाई नौरोजी जैसे राष्ट्रीय नेता भारत के संदर्भ में अपने अध्ययन से यह सिद्ध कर चुके थे कि ब्रिटेन की समृद्धि बहुत हद तक भारत की प्राकृतिक संपदा की लूट पर टिकी है। इंग्लैंड और यूरोप के अन्य राष्ट्रों में औद्योगिक क्रांति के पहले भारत, दक्षिण पूर्व एशिया और उत्तर व दक्षिण अमरीका में यूरोपीय शक्तियों का आधिपत्य और प्रसार शुरू हो गया था। अर्थात् औद्योगिक क्रांति और यूरोपीय शक्तियों के आधिपत्य और प्रसार के बीच समय का फासला बहुत कम है और दूसरे यूरोपीय शक्तियों के अपने उपनिवेशों से आर्थिक संबंध इस प्रकार के एकतरफा शोषण और दोहन के थे कि साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के उत्थान के बीच संबंध साफ नजर आता है।

साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के बीच अंतरंग संबंध की बात मानने के कारण डा. लोहिया ने इस विचार को खारिज कर दिया

कि भारत पश्चिमी यूरोप की तर्ज पर अपनी अर्थव्यवस्था का विकास कर सकता है। भारत का पूंजीगत आधार इतना कम और दुर्बल है कि विशाल पैमानेवाले उद्योगों के आधार पर उसके विकास की संभावना एकदम क्षीण है। इस निराशा के अलावा शायद विशाल पैमानेवाले उद्योगों के कुछ नकारात्मक पहलुओं ने भी लोहिया को डीजल और बिजली द्वारा संचालित छोटी मशीनों की तकनालॉजी के माध्यम से औद्योगीकरण करने की वकालत करने को प्रेरित किया।

निराशाजनक स्थिति के बावजूद भारत के कुछ हिस्सों में बहुत छोटे पैमाने पर आधुनिक भारी उद्योगों का विकास शुरू होता दिखाई पड़ने लगा था। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के बंदरगाह वाले शहरों के आसपास जहां अंगरेजों ने प्रारंभ में अपने पैर जमाए थे, कुछ आधुनिक भारी उद्योग विकसित होने लगे थे। 1853 में बम्बई से रेलवे का विकास शुरू हुआ। बम्बई और कलकत्ता के आसपास नई तकनालॉजी के इस्तेमाल से कपड़ा और पटसन उद्योगों का प्रसार हो रहा था। यही नहीं, बंदरगाह वाले शहरों के आसपास मेटालर्जी (धातु) के बहुत से धातु आधारित उद्योग विकसित हो रहे थे। लेकिन इस सारे विकास में एक बात समान थी और वह यह कि ये सारे उद्योग अपने कच्चे माल, खनिजों और सस्ते श्रम (मजदूरों) के लिए झारखंड, मध्यप्रदेश, ओडिशा, पूर्वी उत्तरप्रदेश, आंध्र और कर्नाटक जैसे देश के दूरवर्ती भीतरी इलाकों पर निर्भर थे। कलकत्ता, मद्रास, बम्बई जैसे औद्योगिक केंद्रों का उन सुदूरवर्ती इलाकों से (जिनसे वे खनिज, कृषिजन्य कच्चा माल

और सस्ता श्रम प्राप्त करते थे) लगभग उसी प्रकार का रिश्ता था, जिस प्रकार का रिश्ता 18वीं और 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि साम्राज्यवादी शक्तियों का एशिया, अफ्रीका और उत्तर व दक्षिण अमरीका के अपने उपनिवेशों से था। जिस तरह साम्राज्यवादी शक्तियों ने भारत से गिरमिटिया मजदूर भेजकर दक्षिण अफ्रीका, गुयाना और मॉरीशस में खदानों और खेतों का विकास किया उसी तरह उन्होंने—झारखंड के गांवों के आदिवासियों को बंगाल और असम के चाय बागानों में भेजा। कलकत्ता, बम्बई की मिलों में कम मजदूरी पर काम करने के लिए देशभर से खासकर बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र के कोंकण और सतारा के गरीबी से बेहाल इलाकों से मजदूर आए। दूरवर्ती इलाकों से वैसा ही रिश्ता बना जो यूरोप के साम्राज्यवादी केंद्रों का उत्तर व दक्षिण अमरीका, एशिया और अफ्रीका के अपने उपनिवेशों से बना था। यह एक

आंतरिक औपनिवेशिक संबंध था, जो औद्योगिक क्रांति के पहले यूरोप के अपने उपनिवेशों से साम्राज्यवादी संबंध की प्रतिकृति के रूप में प्रकट हो रहा था।

भारत का अधकचरा औद्योगीकरण

बड़ी मात्रा में कच्चे माल की ढुलाई से बचने के लिए उन इलाकों में जहां गन्ना पैदा होता था, चीनी मिलें बैठाई जाने लगीं तो बिहार का नंबर आगे-आगे था। इसी तरह विदर्भ के नागपुर और गुजरात के अहमदाबाद में कपड़ा मिलें खोली गईं क्योंकि इनके आसपास कपास की खेती के इलाके थे। कानपुर जैसे कुछ शहरों और इलाकों का भी विकास किया गया क्योंकि इनके इर्द-गिर्द कुछ कच्चा माल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। लेकिन मुख्य औद्योगिक केंद्र तो कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के तटवर्ती इलाके ही रहे, जहां ब्रिटेन ने पहले पहल अपने पैर जमाए थे। ढुलाई के खर्च में बचत करने के लिए ब्रिटेन ने नील और शोरा बनाने के लिए बिहार के सुदूरवर्ती इलाकों को चुना। यही नहीं, अपने आर्थिक स्वार्थ को निर्मम रूप से साधने के लिए अंगरेजों ने चंपारण के किसानों को अपनी खेती की कुल जमीन के लगभग एक छठे हिस्से में नील की खेती करने को मजबूर किया। यह नील की

जबरन खेती थी, जिसका विरोध करने के लिए महात्मा गांधी का पिछली शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में बिहार आगमन हुआ।

1912 में ब्रिटिश भारत की राजधानी का कलकत्ता से दिल्ली को स्थानांतरण हुआ तो दिल्ली के आसपास एक औद्योगिक केंद्र बनने लगा। राजधानी के पास होने के कारण यह केंद्र रेलवे और सड़क मार्ग से शीघ्र ही जुड़ गया। इसमें उद्योगों के लिए आवश्यक पानी की सप्लाई, बिजली, बाजार जैसी सुविधाएं भी विकसित होने लगीं। देश की राजधानी होने की वजह से यह स्वाभाविक था कि प्रशासन, सेना और पुलिस से जुड़े कर्मचारी बड़ी संख्या में दिल्ली आ कर रहें। इस तरह

एक बड़ा बाजार पैदा हुआ, जिससे दिल्ली और उसके आसपास ही नहीं उत्तरप्रदेश, हरियाणा और पंजाब के निकटवर्ती इलाकों में बड़ी मात्रा में करखनिया माल बनने लगा। आर्थिक रूप से बम्बई, मद्रास, कलकत्ता और बाद में दिल्ली जैसे केंद्रों का बिहार जैसे देश के दूरवर्ती इलाकों से वैसा ही रिश्ता बना जो यूरोप के साम्राज्यवादी केंद्रों का उत्तर व दक्षिण अमरीका, एशिया और अफ्रीका के अपने उपनिवेशों से बना था।

तेजी से बढ़ते हुए औद्योगिक केंद्रों ने नए उद्योगों में काम और प्रशासकीय सेवाओं में नौकरियां उपलब्ध करने के साथ निर्माण कार्यों और माल ढोने के कामों में बड़े पैमाने पर सस्ती दरों पर मजदूरी के अवसर पैदा किए। यह स्वाभाविक था कि इन केंद्रों के इलाकों में पूंजी का निवेश हुआ और बिहार जैसे राज्यों को वंचना का शिकार होना पड़ा - उनमें पूंजी का निवेश नहीं हुआ और उनका औद्योगिक विकास नहीं हो सका। यह सब दुनिया के पैमाने पर होनेवाले प्रारंभिक औद्योगीकरण के चित्र की प्रतिलिपि सरीखा मालूम पड़ता है, जब ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस जैसे यूरोप के देशों का 18वीं और 19वीं शताब्दियों में आधुनिक विकास के चलते एकदम कायापलट हो गया जबकि अधिकांश औपनिवेशिक और पराधीन राष्ट्र कंगाल होते गए और उनकी जनता लगातार कुपोषण का शिकार होती रही। बीच-बीच में उसे अकाल की विभीषिका से भी गुजरना पड़ता था। आज भी यह सब बड़ी आसानी से देश के विभिन्न क्षेत्रों के असमान और

विषमतापूर्ण विकास में देखा जा सकता है। मुंबई महाराष्ट्र की राजधानी है। अपने अत्याधुनिक औद्योगिक लावलशकर के साथ वह देश का सबसे समृद्ध शहर है। इसी महाराष्ट्र का विदर्भ भी एक हिस्सा है, जहाँ किसान गरीबी और कर्ज की मार से नियमित आत्महत्या करते रहते हैं। यह कृषि और उद्योग के बीच विषमतापूर्ण रिश्ते को भी कहीं दर्शाता है। यह सारा रिश्ता एक साम्राज्य के अपने उपनिवेश से रिश्ते जैसा है। इस रिश्ते को हम आंतरिक उपनिवेश की व्यवस्था के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। बिहार आंतरिक उपनिवेशवाद का एक ठेठ नमूना है।

हाल की कुछ घटनाओं से यह साफ झलकता है कि पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका में उद्योगों के चमत्कारी विकास के पीछे विश्व के साम्राज्यवादी आधिपत्य की बहुत बड़ी भूमिका रही है। इस आधिपत्य का अर्थ होता था अधीनस्थ देशों के प्राकृतिक संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण। यह पूर्ण नियंत्रण पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका में उद्योगों के चमत्कारी विकास की आवश्यक शर्त था यानी प्राकृतिक संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण के बिना चमत्कारी विकास

नहीं हो सकता था। यूरोप के सभी बड़े औद्योगिक राष्ट्रों और संयुक्त राज्य अमरीका में अभी वृद्धि की दर तेजी से घट रही है। वहाँ आर्थिक गतिरोध है और मुद्रास्फीति

की भी स्थिति है। इस गतिरोध और मुद्रास्फीति का लगातार बने रहना पहली सरीखा जान पड़ेगा। लेकिन यदि हम पुराने औद्योगिक राष्ट्रों के आधिपत्य वाले क्षेत्रों के संकुचित हो जाने की बात ध्यान में लाएँ तो पहली, पहली नहीं रह जाती। मजे की बात यह है कि जब पुराने औद्योगिक राष्ट्रों में आर्थिक अवनति हो रही है तब उन कुछ राष्ट्रों में जो पहले पश्चिमी आधिपत्य में रहे थे, वार्षिक वृद्धि की दर तेजी से बढ़ी है। ऐसे कुछ राष्ट्रों में भारत, चीन, ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका हैं। प्रसंगवश इस बात की ओर भी हमारा ध्यान जाता है कि ये राष्ट्र 'ब्रिक्स' नाम से जाने जानेवाले एक पांच सदस्यीय नए अंतरराष्ट्रीय गुट के भी सदस्य हैं। ब्रिक्स का मतलब है - ब्राजील, रूस, इंडिया (भारत), चीन और दक्षिण अफ्रीका। चीन ने कुछ वर्ष अपनी सकल घरेलू उत्पाद दर में 12 प्रतिशत तक वृद्धि दर्ज की है। भारत भी 10 प्रतिशत की वृद्धि की आकांक्षा

पालता है। संयुक्त राज्य अमरीका, जापान और यूरोप के अधिकांश बड़े ऑटो (मोटर, बस, लारी आदि) निर्माताओं ने भारत और चीन में अपने कारखाने बैठाए हैं।

ब्रिक्स के आंतरिक उपनिवेश

यह ध्यान देने की बात है कि इस नए अंतरराष्ट्रीय गुट ब्रिक्स (ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका) के प्रत्येक राष्ट्र के पास सस्ते श्रम और प्रचुर कच्चे मालवाले पिछड़े इलाकों के रूप में आंतरिक उपनिवेश है। रूस को छोड़कर इनमें से प्रत्येक राष्ट्र अतीत में पश्चिमी शक्तियों के आधिपत्य में रहा है। यद्यपि रूस कभी भी किसी अन्य यूरोपीय शक्ति के अधीन नहीं रहा लेकिन उसके पास हमेशा एक विशाल आंतरिक उपनिवेश रहा है। बोलशेविकों 1917 में सत्ता में आने पर बोलशेविकों ने गैर रूसी प्रदेशों को यह वचन दिया था कि अगर वे चाहें तो सोवियत संघ से अलग हो सकते हैं। लेकिन इस वचन का उन्होंने पालन नहीं किया। अलबत्ता लगभग 75 वर्ष बाद सोवियत संघ के विघटन के बाद कुछ गैर रूसी प्रदेश

अब अलग हो गए हैं लेकिन अभी भी रूस के पास प्रचुर प्राकृतिक संसाधन हैं। वहाँ प्राकृतिक गैस, तेल और कोयले के भंडारों का इतना विशाल क्षेत्र है, जितना किसी देश के साम्राज्य में कभी नहीं

रहा। ब्राजील के पास दुनिया का सबसे बड़ा व घना उष्ण कटिबंधीय वन, प्रचुर कृषि भूमि और ऐसे विशाल अछूते इलाके हैं जिनमें खनिज संपदा पाए जाने की संभावना है। दक्षिण अफ्रीका हमेशा से प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर देश रहा है। वह हाल तक गोरे बाशिंदों का आंतरिक उपनिवेश था। अब रंगभेद समाप्त होने के साथ वहाँ काले अफ्रीकियों का शासन है। चीन, यूरोपीय आधिपत्य के एक संक्षिप्त अंतराल को छोड़कर हमेशा एक बड़ा साम्राज्यवादी राष्ट्र रहा है। उसके पास कोयले के विशाल भंडार के अलावा बहुत सारे आधुनिक उद्योगों के लिए आवश्यक खनिज प्रचुर मात्रा में हैं। इसके साथ उसके पास अपार और सस्ती श्रमशक्ति है। इन सबके बूते पर संयुक्त राज्य अमरीका के बाद वह सबसे बड़ी औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले देश के रूप में उभरा है। लेकिन उसके भीतर ठेठ आंतरिक उपनिवेश जैसी स्थिति है। उसके समृद्धि

वाले इलाके अपेक्षाकृत छोटे हैं और कुछ बड़े तटवर्ती शहरों और बीजिंग तक ही सीमित हैं। ऊपर हमने जिन बातों की चर्चा की है, वे यह इंगित करती हैं कि आर्थिक शक्ति अब बाहरी उपनिवेशवाद से खिसककर आंतरिक उपनिवेशवाद की तरफ मुखातिब हो रही है।

एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रेरक और संचालक शक्ति अपने उत्पादन और उसकी बिक्री को लगातार बढ़ाते रहने की होती है सो देर-सबेर उसे बाजार के अभाव की समस्या से मुखातिब होना पड़ता है। यह पहले के मंदी के संकटों के समय जाहिर हो चुका है। मंदी का कारण होता है उत्पादित वस्तुओं का अधिक मात्रा में उपलब्ध होना लेकिन उन्हें खरीदने की शक्ति का अभाव होना। उत्पादन और क्रय शक्ति के बीच हमेशा खाई रहती है। 19वीं सदी से अब तक

इस समस्या से उबरने के अल्पकालिक और अस्थायी उपायों की कहानियां इतिहास हमें बताता रहा है। लेकिन इससे कहीं बहुत ज्यादा गंभीर समस्या तो यह है कि उत्पादन के लिए कोयला, तेल, प्राकृतिक गैस, तरह-तरह के खनिजों, वन-संपदा और कृषि पदार्थों की जरूरत पड़ती है। लेकिन हमारी पृथ्वी के पास इनका अकूत भंडार नहीं है सो देर-सबेर उत्पादन की प्रक्रिया को धीमा होना होगा और आखिरकार रुक जाना पड़ेगा। पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों को उपनिवेशों पर अपने आधिपत्य की समाप्ति के साथ यानी 20 वीं शताब्दी के मध्य से इस तरह की रुकावट और कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। लेकिन इसी समय नवमुक्त विशाल अर्थव्यवस्थाओं का उत्कर्ष हो रहा था, जो उनकी अपेक्षाकृत ऊंची वृद्धि दर के रूप में प्रकट हो रहा था। हाल में भारत और चीन दोनों की वृद्धि दर का धीमा पड़ना शायद इस बात का संकेत है कि इन दोनों देशों में भी प्रचुर संसाधनों ही नहीं सस्ते श्रम का युग भी समाप्ति की ओर बढ़ रहा है।

चीन और भारत दोनों ही उन देशों खासकर अफ्रीकी देशों में जहां पश्चिमी शक्तियों का आधिपत्य रहा था, प्राकृतिक संसाधनों के नए स्रोत प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। 2011 में इंडियन फर्टिलाइजर एसोसिएशन ने भारत सरकार से मांग की थी कि विदेशों से खनिज संपदा प्राप्त करने के लिए एक कोष बनाया जाए (द हिन्दू, 14

दिसंबर 2011)। जुलाई 2011 में विश्व व्यापार संगठन में भारत ने संयुक्त राज्य अमरीका और ब्राजील के साथ यह मांग की थी कि संगठन चीन को इस्पात, अलुमीनियम और रसायन उद्योगों के लिए एकदम आवश्यक कुछ कच्चे माल का निर्यात संकुचित करने की उसकी नीति त्यागने को बाध्य करे (द हिन्दू, 1 फरवरी 2012)। यह सब विकास और वृद्धि की सीमा का संकेत देता है, जिसे कोई भी राष्ट्र जो उच्च स्तरीय औद्योगीकरण की आकांक्षा पालता है, नजरअंदाज नहीं कर सकता। तथाकथित आधुनिक विकास ऐसे नए बुनियादी उपादानों का सृजन नहीं करता जो आगे चलकर दीर्घस्थायी जीवनोपयोगी संपत्ति का स्रोत बन सकें। और तो और वह अपने हस्तक्षेप से विकास और क्षय की प्राकृतिक प्रक्रियाओं को अवरुद्ध

करता है। चूंकि प्रकृति के वरदान - खनिजों से भरी आधुनिक विकास ऐसे नए बुनियादी उपादानों का सृजन नहीं करता जो आगे चलकर दीर्घस्थायी चट्टानें, सघन वन, नदियां, जीवनोपयोगी संपत्ति का स्रोत बन सकें। और झरने और जल प्रपात - तो और वह अपने हस्तक्षेप से विकास और क्षय असीमित और शाश्वत नहीं की प्राकृतिक प्रक्रियाओं को अवरुद्ध करता है। हैं, वे नए मानव उद्यमों द्वारा परिवर्तित किए जाने और

परिवर्तित किए जाने और नुकसान पहुंचाए जाने पर समाप्त हो जाएंगे, चुक जाएंगे। आज हम पर्यावरण के जिस संकट का सामना कर रहे हैं, वह यह चेतवानी दे रहा है कि हम विनाश के कगार पर पहुंचने को हैं। एक राष्ट्र या एक राज्य के विकास के बारे में सोचते वक्त हम आगे जो भयावह दृश्य दिखाई पड़ रहा है, उससे आंख नहीं फेर सकते।

(अंगरेजी से अनुदित)

पत्रिका नहीं, वैचारिक आंदोलन

सामयिक वार्ता

**पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं,
मित्रों को उपहार दें**

देश और दुनिया की घटनाओं व हलचलों

को जानने-समझने और विश्लेषण में

मददगार एक पत्रिका

राज्य सत्ता बनाम लोक सत्ता

रविकिरण जैन एवं अंशु मालवीय

संविधान की मंशा के मुताबिक 'संप्रभु सत्ता' जनता और समुदाय में निहित है, न कि राज्य में। संविधान के 73 और 74 वें संशोधन पंचायतों, नगर निकायों व जिला योजना समितियों को स्वशासन की संस्थाएं बनाते हैं। लेकिन इसकी अवहेलना करके योजना आयोग और शहरी विकास प्राधिकरण केन्द्रीकृत गलत विकास का जरिया बने हैं। वैकल्पिक विकास के लिए सत्ता का विकेंद्रीकरण जरूरी है।

रविकिरण जैन
इलाहाबाद उच्च
न्यायालय के वरिष्ठ
वकील हैं। पीयूसीएल
के वरिष्ठ पदाधिकारी रहे
हैं।

jainravikiran
@yahoo.co.in

“ भारत की सेवा का मतलब है उन करोड़ों लोगों की सेवा जो वंचित हैं। इसका मतलब है गरीबी, अज्ञानता, बीमारी और अवसरों की असमानता को खत्म करना। हमारे युग के महानतम व्यक्ति की महत्वाकांक्षा हर आंख से आंसू पोंछने की है। यह हमारी क्षमता से बाहर हो सकता है लेकिन जब तक आंसू और तकलीफें हैं, हमारा काम खत्म नहीं होता।”

—जवाहर लाल नेहरू

संविधान सभा हॉल, 14-15 अगस्त की रात्रि 1947

आजादी की कई दहाइयां बीतने के बाद भी हमारे देश में 'गरीबी, बीमारी, अज्ञानता और अवसरों की असमानता' खत्म नहीं हुई है। आंकड़ेवार तरक्की के तमाम दावों के बाद भी हालात ये हैं कि मानव विकास के कई सूचकांकों में हमारी हालत उपसहारा अफ्रीका के गरीबतम देशों के बराबर है। दुनिया भर के गरीबों की एक भारी संख्या और कुपोषण से बदहाल बच्चों की बड़ी संख्या हमारे देश में रहती है। आजादी के आंदोलन से निकला तपा तपाया नेतृत्व, एक पर्याप्त रूप से विकसित और विस्तृत संविधान और तमाम झटकों के बाद भी एक स्थाई लोकतंत्र की स्थापना के बावजूद आज हम स्वराज और सुराज के लक्ष्य से बहुत दूर पहुंच गए हैं। तो क्या इस पर बात करना जरूरी नहीं कि चूक कहां हुई? क्यों आज हम बेलगाम शहरीकरण, बरबाद होती खेती, नष्ट होते पर्यावरण, विस्थापन, गरीबी, भ्रष्टाचार और सामाजिक हिंसा के उस गर्त की ओर बढ़ते जा रहे हैं जहां से वापसी संभव नहीं होती। आज इन बीमारियों के मूल कारण को पहचानने और उसका इलाज करने का वक्त आ गया है। हमारी समझ से यह बीमारी है सत्ता और संसाधन का केन्द्रीकरण।

आजादी के बाद हुआ विकास

केन्द्रीकरण के रास्ते पर चला है। भारी उद्योग आधारित केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था तथा कार्यपालिका और विराट नौकरशाही के हाथ में ताकत के सिमटते जाने ने हमारे लोकतंत्र को एक औपचारिक लोकतंत्र में तब्दील कर दिया। जनता की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में शिरकत बस पांच साला चुनावी अनुष्ठान में मतदान तक सीमित हो गई है। शुरु में नई-नई मिली आजादी के जोश और आजादी की लड़ाई के नायकों के सत्ता में रहने से पर्दा पड़ा हुआ था। लेकिन जैसे ही ये लोग राजनीति के मंच से विदा हुए केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियां बेकाबू हो गईं। 1971 में संसद और विधानसभा के चुनावों के एक दूसरे से अलग किए जाने से यह प्रक्रिया शुरू हुई। यह सिलसिला बहुत तेजी से वहां पहुंच गया जहां कि संसद और न्यायपालिका उपेक्षित हो गए और सारी ताकत कैबिनेट के हाथों में सिमट गई। दो-चार वर्ष में ही देश का सारा काम-काज प्रधानमंत्री कार्यालय से संचालित होने लगा। इस केन्द्रीकरण ने हमें आर्थिक भ्रष्टाचार, राजनीतिक पतन और सामाजिक विद्वेष के उस मोड़ पर पहुंचा दिया जहां से जनता की संप्रभुता के पूर्ण हनन के रास्ते खुलते हैं।

इस प्रक्रिया का एक नतीजा यह हुआ

कि केन्द्रीकरण राष्ट्रीय चौहदियां लांघ गया। सत्ता सिर्फ प्रभावशाली राजनीतिक वर्ग और नौकरशाही तक ही नहीं बल्कि विश्व बैंक और आई.एम.एफ. जैसे अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के हाथ में भी कैद हो गई। भारत का विशाल बहुमत प्रतिनिधि लोकतंत्र के प्रतीक में ही फंसा रह गया और कभी भी भागीदारी आधारित लोकतंत्र का विकास नहीं हुआ। सत्ता के विकेन्द्रीकरण का सवाल भुला दिया गया।

संप्रभुता समुदाय की

आज का विकास मानव केन्द्रित विकास नहीं है बल्कि मानव को बेदखल करने वाला विकास है। भारी उद्योग, वैश्विक बाजार और अनियंत्रित शहरीकरण इस विकास की चालक शक्तियां हैं। ऐसे हालात में जल, जंगल, जमीन और खनिज पर मालिकाना हक का सवाल महत्वपूर्ण हो गया है।

आज के विकास के मॉडल को पूरी तरह से लागू करने के लिए राज्य ने खुद को प्रकृति का एकछत्र स्वामी घोषित कर दिया है। यह इसलिए ताकि सारे प्राकृतिक संसाधन को वैश्विक कारपोरेट ताकतों को सौंपा जा सके। पिछले दिनों भूमि अधिग्रहण

कानून पर होने वाली बहसों में यह मुद्दा खुलकर सामने आया। तमाम जनान्दोलनों एवं जनपक्षधर बुद्धिजीवियों ने भूमि अधिग्रहण के राज्य के एकाधिकार को चुनौती दी। यह पूरी बहस 'संप्रभु सत्ता (एमीनेन्ट डोमेन)' की अवधारणा से जुड़ी है। मुद्दा यह है कि संप्रभु सत्ता किसमें निवास करती है राज्य में या जनता में। जल-जंगल और जमीन के बारे में चल रही बहसों में 'संप्रभु सत्ता' का यह सवाल निर्णायक महत्व रखता है।

आजादी के बाद के कई दशक बीतने के बाद भी कई मायनों में हमारी नौकरशाही एवं न्यायापलिका औपनिवेशिक मानसिकता से ही काम करते आए हैं। इस मानसिकता का एक अभूतपूर्व उदाहरण है- संप्रभु सत्ता (एमीनेन्ट डोमेन) का सिद्धान्त। 1950-1970 के बीच सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कई फैसलों के माफत 'संप्रभु

सत्ता' का सिद्धान्त विकसित किया। 'स्टेट ऑफ बिहार बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह' (1952) मामले में 'संप्रभुता सत्ता' के सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान को उद्धृत करने की जगह राजनीतिक विचारक ह्यूगो ग्रोशस की बात को महत्व दिया। ह्यूगो ग्रोशस ने 1525 में अपनी किताब में लिखा था- 'प्रजा की संपत्ति राज्य की संप्रभु सत्ता (एमीनेन्ट डोमेन) के अधीन है। राज्य स्वयं या वह जो राज्य की तरफ से निर्णय करता है वह प्रजा को उसकी संपत्ति से वंचित कर सकता और संपत्ति को नष्ट भी कर सकता है।' इसी सिलसिले में दार्शनिक कांट को उद्धृत करते हुए न्यायाधीश आगे कहते हैं कि राज्य में स्वाभाविक रूप से संप्रभु सत्ता का निवास है और वह प्रजा की संपत्ति ले सकता है बशर्ते उन्हें उचित मुआवजा दिया जाए।

यहां विडंबना यह है कि सर्वोच्च न्यायालय संप्रभु

कैसी विडंबना है कि सर्वोच्च न्यायालय अपनी समझ विकसित करने के लिए संविधान के इस प्रासंगिक अनुच्छेद 39-बी को संज्ञान में लेने की जगह यूरोपीय विद्वानों का हवाला देता है। अगर इस नजरिये से देखें तो जल-जंगल-जमीन पर समुदाय के मालिकाने की मांग एक संवैधानिक मांग है। राज्य जनता के लिए है, जनता राज्य के लिये नहीं है।

सत्ता के सिद्धान्त के विकास के लिए ग्रोशस और कांट को उद्धृत करता है लेकिन उसकी नजर आजाद भारत की नई प्रेरणा से बने अपने संविधान पर नहीं गई। उल्लेखनीय है कि ग्रोशस और कांट उस दौर के यूरोपीय चिंतक हैं जब पूंजीवाद का विकास शुरू हुआ था और राज्य को इस विकास में

अपनी भूमिका निभाने के लिए असीम शक्तियों की जरूरत थी। राज्य को यह शक्ति इसीलिए चाहिए थी ताकि वह पूंजीवाद की राह में आने वाली सभी बाधाओं को आसानी से दूर कर सके। साथ ही भूमि या कच्चे माल के रूप में प्रकृति के बेलगाम दोहन की राह आसान कर सके।

लेकिन हमारा संविधान राजनीतिक-सामाजिक क्रांति की बहुत सारी सुगबुगाहटों से भरा है। इसके निर्माताओं में से अनेक ऐसे थे जिनके लिए संविधान का निर्माण सिर्फ राज्य सत्ता के संचालन का यंत्र नहीं था बल्कि नए समाज के निर्माण का भी एक रास्ता था। हमारे संविधान की एक मूल भावना है 'हम भारत के लोग' यानी संविधान यह मानता है कि संप्रभु सत्ता जनता में निहित है न कि राज्य में। संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्व में अनुच्छेद 39 बी में कहा गया है कि 'समुदाय के भौतिक

संसाधनों' का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बांटा गया हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो।' यहां ध्यान देने की बात है 'समुदाय के भौतिक संसाधन' यानी सारे संसाधन समुदाय के हैं।

कैसी विडंबना है कि सर्वोच्च न्यायालय अपनी समझ विकसित करने के लिए संविधान के इस प्रासंगिक अनुच्छेद 39-बी को संज्ञान में लेने की जगह यूरोपीय विद्वानों का हवाला देता है। अगर इस नजरिये से देखें तो जल-जंगल-जमीन पर समुदाय के मालिकाने की मांग एक संवैधानिक मांग है। राज्य जनता के लिए है, जनता राज्य के लिये नहीं है।

पंचायतों और नगर निकाय स्वराज की संस्थाएं

आज विकास का जो मॉडल है वह अपने कारण, प्रक्रिया और परिणाम हर नजरिये से केन्द्रीकरण को बढ़ावा देने वाला है। यह कुछ लोगों के निर्देशन में कुछ लोगों के हित में चलाया जा रहा मॉडल है, अधिकांश जनता इसमें सिर्फ मूकदर्शक है या भुक्तभोगी हैं। इस विकास से सत्ता और संसाधन का बड़े पैमाने पर केंद्रीकरण हो रहा है। समाज के वंचित तबकों की बड़े पैमाने पर संसाधनों से बेदखली हो रही है और प्रकृति का ऐसा संहार हो रहा है जिसकी भरपाई नहीं की जा सकेगी। लेकिन दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में ऐसा हो कैसे रहा है? क्या पूरे देश की जनता ने इस बात को कुबूल कर लिया है कि ताकत कुछ लोगों के हाथ में रहेगी और वे केवल आदेश का पालन करेंगे! क्या हमारे देश और संविधान ने ऐसे मंचों का निर्माण किया है जहां खड़े होकर जनता शासन के फैसलों में भागीदारी कर सकें? हमें इन सवालियों के जवाब ढूंढने होंगे।

दुनिया में हर जगह जहां राष्ट्रीय आंदोलन चले हैं, क्रांतियां हुई हैं या सामाजिक आन्दोलन चले हैं, जनता की सीधी भागीदारी पर आधारित वास्तविक लोकतांत्रिक संस्थाओं की रचना हुई है या उनके बारे में चिन्तन हुआ है। भारत में भागीदारी आधारित इन लोकतांत्रिक संस्थाओं को हम पंचायत और नगर निकाय के रूप में जानते हैं। लेकिन (पंचायत या नगर निकाय से आशय यह नहीं है कि राष्ट्रीय संस्थाएं योजना बनाएं और पंचायतें उन्हें स्थानीय स्तर पर लागू करने की मशीन मात्र भी न हों। योजना बनाने से लेकर लागू करने तक के हर चरण पर जनता की सीधी भागीदारी की संस्थाएं हैं पंचायत। विकास के

वैकल्पिक मॉडल की अवधारणा सत्ता के विकेन्द्रीकरण से जुड़ी है।

वैकल्पिक मॉडल का मतलब है जनता की सीधी भागीदारी द्वारा बनाया गया टिकाऊ विकास। टिकाऊ विकास का मतलब है लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, पर्यावरण और संस्कृति के प्रति संवेदनशील विकास यानी एक ऐसा विकास जो आने वाली पीढ़ियों के भी काम आए। जाहिर है कि ऐसा तब तक संभव नहीं है जब तक उन संस्थाओं का विकास न हो जो शासन-प्रशासन में जनता की सीधी भागीदारी सुनिश्चित करें। भारत में संवैधानिक रूप से ग्राम और नगर स्तर पर पंचायतों के निर्माण की व्यवस्था है। लेकिन आज भी इन पंचायतों को योजनाओं को लागू करने की मशीन मात्र समझने की प्रवृत्ति है। सत्ता के केन्द्रीकृत चरित्र, राजनीतिक भ्रष्टाचार और नौकरशाही की जकड़बंदी ने संवैधानिक व्यवस्था के बाद भी पंचायतों को वास्तविक ताकत हासिल नहीं करने दी है। इसलिए जरूरी है कि हम यह जाने कि हमारा संविधान पंचायतों के अधिकारों के बारे में क्या कहता है!

संविधान संशोधन 73 एवं 74 द्वारा गांवों और शहरी इलाकों में पंचायतों की व्यवस्था की गई है। लोगों द्वारा विकास की अवधारणा का मतलब है शासन की विकेन्द्रीकृत प्रणाली और इसका सीधा रिश्ता 73 एवं 74 संविधान संशोधन से है। इन संशोधनों के हिसाब से शहर और गांव के सबसे निचले स्तरों पर स्थानीय रूप से चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाए जाने की व्यवस्था है। संविधान के भाग 9 और 9ए के अनुसार पंचायतों का गठन प्रत्येक राज्य के ग्रामीण इलाके में ग्राम, ब्लॉक एवं जिला स्तरों पर होगा तथा शहरी इलाकों में नगरपालिकाओं का गठन होगा। अनुच्छेद 243वीं और 243 व्यू के अंतर्गत ये स्वशासी निकाय अब संवैधानिक संस्थाएं बन गई हैं। ऐसा नहीं कि इन्हें किसी सरकारी आदेश या कानून द्वारा बनाया गया हो। ये संस्थाएं संसद की तरह और विधानसभाओं की तरह राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों को साकार कर सकती हैं। अनुच्छेद 243 जी ग्रामीण क्षेत्र में पंचायतों को तथा अनुच्छेद 243 डब्ल्यू शहरी क्षेत्र में नगरपालिकाओं को शक्ति प्रदान करता है कि वे स्वशासी निकायों की तरह काम करें। इन निकायों को हक है कि वे आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय की योजनाएं बनाएं तथा उनको लागू भी करें। आर्थिक विकास के साथ सामाजिक न्याय को जोड़ने का बहुत व्यापक अर्थ है।

संविधान को सिर्फ इस बात की चिन्ता नहीं है कि आर्थिक विकास हो बल्कि उसकी चिन्ता है कि यह विकास वितरणमूलक हो और विकास का लाभ सभी तक पहुंचे। यानी संविधान का लक्ष्य भागीदारी पर आधारित समग्र मानवीय विकास है। इसी के साथ इन निकायों को वित्तीय संसाधन दिए जाने के संदर्भ में भी व्यापक व्यवस्था है। राज्यों की विधायिकाओं को यह निर्देश दिया गया है कि पंचायतों एवं नगरपालिकाओं को स्वशासी निकाय बनाने के लिए उनके काम तथा जिम्मेदारियां निर्धारित करें और उन्हें शक्तियां प्रदान करें। इस नजरिये से पंचायतों के लिए 29 विषयों तथा नगरपालिकाओं के लिए 18 विषयों की सूची दी गई है।

अनुच्छेद 243 जेड डी में कहा गया है कि हर राज्य में जिला स्तर पर जिला योजना समिति बनेगी जो पंचायतों तथा नगरपालिकाओं द्वारा तैयार योजनाओं को इकट्ठा कर पूरे जिले के लिए समेकित विकास का प्रारूप तैयार करेगी। यानी ग्रामीण और शहरी विकास की सीमाएं तय करने का काम जिला स्तर पर स्वशासी निकाय जनता की भागीदारी के साथ करेंगे जबकि आज यह काम विकास प्राधिकरणों के मार्फत हो रहा है। अलोकतांत्रिक रवैये और बड़ी पूंजी के हित में बेलगाम शहरीकरण के हामी ये विकास प्राधिकरण नौकरशाही की जकड़ के

प्रतीक हैं। जबकि 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के बाद ये विकास प्राधिकरण न केवल अप्रासंगिक बल्कि असंवैधानिक हो गए हैं। क्योंकि शहरी विकास, इसकी सीमा और तरीके सभी स्वशासी निकायों के विषय हैं न कि विकास प्राधिकरणों के। आज संविधान संशोधन के 20 साल बाद भी अधिकांश राज्यों में जिला योजना समितियां नहीं बनी और विकास प्राधिकरण बेरोकटोक कार्य कर रहे हैं, जिसका नतीजा है बेकाबू शहरीकरण, कृषि का विनाश और विस्थापन।

इन संविधान संशोधनों के बाद न केवल यह जरूरी है कि विकास प्राधिकरणों को समाप्त किया जाए, जिला योजना समितियां गठित की जाएं बल्कि यह भी जरूरी है

कि जिले को ही पुनर्गठित किया जाए। संविधान में भाग 9 और 9ए के शामिल होने से पहले 'जिला' शब्द को परिभाषित नहीं किया गया था लेकिन अब यह परिभाषित है। इस परिभाषा के बाद 'जिला' अब एक संवैधानिक इकाई हो गई है। प्रशासनिक जरूरत के हिसाब से कार्यपालिका के आदेश से राजस्व जिलों को बनाया जा सकता है लेकिन अब संवैधानिक मांग के अनुसार जिलों को पुनर्गठित करना होगा। लगान टैक्स वसूली पर आधारित कलेक्टर शासित जिला इकाइयों की जगह ऐसे जिलों के निर्माण की बात शुरू होनी चाहिए जिसमें सत्ता विकेंद्रित हो, जो जन भागीदारी पर आधारित हो, जिसमें विकास की सारी योजनाओं और प्रकल्पों का प्रस्ताव जनता की छोटी इकाइयों से ऊपर जाए और जिसमें नौकरशाही की दखलंदाजी न हो।

योजना नीचे से ऊपर की ओर

न केवल विकास प्राधिकरण बल्कि भारत का योजना आयोग भी असंवैधानिक हैं। हमें इस बात को कहने की ताकत स्वयं संविधान से हासिल होती है।

संविधान ग्रहण करने के सात हफ्तों के भीतर ही एक प्रस्ताव द्वारा 15 मार्च 1950 को जवाहर लाल नेहरू की सरकार ने योजना आयोग का गठन किया।

योजना आयोग की भूमिका घोषित की गई थी देश के भौतिक, पूंजीगत एवं मानवीय संसाधनों का आंकलन, उनकी बढ़ोत्तरी की योजनाएं एवं योजना के लिए मशीनरी का निर्धारण। आज खेती, पर्यावरण और संस्कृति को नष्ट करने की कीमत पर किए जा रहे जबरन शहरीकरण की हिमायती सभी सरकारें हैं चाहे वे केन्द्र में हों या प्रदेशों में। इस जबरन शहरीकरण का सीधा रिश्ता केन्द्रीकृत योजना से है जिसका झंडाबरदार योजना आयोग है। खुद योजना आयोग ने अपनी विभिन्न रपटों में यह बात कुबूल की है कि भारत में विकास के जिन प्रतिमानों को अपनाया गया है उन्होंने सामाजिक गैरबराबरी और राज्यों के बीच असमानता को बढ़ावा दिया है।

यह बात जाहिर है कि संविधान में कहीं भी योजना आयोग के निर्माण का उल्लेख नहीं है और इस रूप में यह असंवैधानिक संस्था है। योजना आयोग नौकरशाही युक्त कार्यप्रणाली का एक नमूना है और इसकी कार्यपद्धति में पारदर्शिता का अभाव है। साल दर साल इसने भारत में केन्द्रीकृत कार्य प्रणाली को बढ़ावा दिया है और वित्त आयोग जैसी संस्थाओं के रहते हुए भी अपनी मर्जी से काम किया है। विशेषज्ञों द्वारा ऊपर से योजनाओं को थोपने का बदतरीन नमूना योजना आयोग पेश करता है।

जाहिर है हमारी मांग है कि योजना का रुख नीचे से ऊपर की ओर होना चाहिए न कि ऊपर से नीचे की ओर। 73वें और 74वें संशोधन के विभिन्न प्रावधान इस प्रक्रिया के उपयुक्त ढांचा भी सुझाते हैं। पंचायतों, नगरपालिका, जिला योजना समिति के साथ ही हम इन संशोधनों के मार्फत राज्य वित्त आयोग भी पाते हैं। इन संशोधनों के पहले से भारत में एक वित्त आयोग है। इसकी जिम्मेदारी है कुल राजस्व में से केन्द्र और राज्यों के बीच ठीक से बंटवारा हो और संचित निधि से राज्यों की मदद की जा सके। अब इन संविधान संशोधनों के बाद से प्रत्येक राज्य में एक ऐसा ही राज्य वित्त आयोग बनने का प्रावधान है जो इसी प्रकार राज्य, पंचायत और नगर निगमों के बीच राजस्व के बंटवारे और संचित निधि से पंचायत एवं नगरपालिकाओं की मदद संबंधी अनुशांसाएं राज्यपाल को दे। लेकिन केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति की वजह से राज्य वित्त आयोग बनने के बाद भी अपनी जड़ नहीं जमा पा रहे हैं। उन्हें अपनी संवैधानिक भूमिका से वंचित रखा गया है।

हम क्या करें ?

अनुच्छेद 243 डी और 243 पी (ई) पर ध्यान दे तो एक मार्के की परिभाषा हमारे हाथ लगती है जो स्वशासी निकायों के बारे में हमारी समझ का विस्तार करती है। यहां कहा गया है कि ये संस्थाएं (पंचायत एवं नगरपालिका) 'स्वशासन की संस्थाएं' हैं न कि स्थानीय स्वशासन की। हमें ठहर कर इस फर्क पर गौर करना होगा। स्थानीय स्वशासन का मतलब हुआ स्थानीय स्तर पर स्थानीय मुद्दों को निपटाने की संस्थाएं। लेकिन स्वशासन का मतलब हुआ स्वराज यानी जनता स्वयं अपने लिए निर्णय ले और उन्हें लागू करे। इसका अर्थ है कि ये केन्द्रीय संस्थाओं की

ताबेदार नहीं होगी बल्कि इन्हें लोकतंत्र में बराबर की जगह हासिल है। ये योजना बनाने, लागू करने और वित्त प्रबंध तक में स्वायत्त हैं। इस रूप में संविधान ने हमें ऐसी संस्थाओं का ढांचा दिया गया जिसे मजबूती प्रदान कर हम भागीदारी आधारित लोकतंत्र का विकास कर सकते हैं। यह भागीदारी आधारित लोकतंत्र ही टिकाऊ विकास का रास्ता अख्तियार कर सकता है। अगर हम प्राकृतिक संसाधन पर समुदाय के मालिकाने से सम्बन्धित अनुच्छेद 39बी को अनुच्छेद 243 जेड डी के साथ रखकर पढ़ें तो हमें यह बात साफ हो जाएगी कि संविधान ने जनता के मालिकाने और प्रबंधन में उसकी भूमिका के मसले पर अपना निर्णय साफ शब्दों में सुनाया है। अनुच्छेद 243 जेड डी कहता है- प्रत्येक जिला योजना समिति विकास योजना प्रारूप तैयार करने में (क) निम्नलिखित बातों का ध्यान रखेगी, अर्थात:- (1) 'पंचायतों और नगरपालिकाओं के सामान्य हित के विषय जिनके अन्तर्गत उस क्षेत्र की समन्वित स्थानिक योजना, जल तथा अन्य भौतिक और प्राकृतिक संसाधनों में हिस्सा बंटाना, अधोसंरचना का एकीकृत विकास और पर्यावरण संरक्षण है।' (2) उपलब्ध वित्तीय या अन्य संसाधनों की मात्रा और प्रकार ;

आज हमारे वक्त में ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जब पंचायतों ने गैर जरूरी और विनाशकारी भूमि अधिग्रहण का विरोध किया है और सफलता भी हासिल की है। अगर पंचायत और नगरपालिकाएं जीवंत और ताकतवर हो उठें तो जनता की भागीदारी से विकास का ऐसा मॉडल विकसित हो सकता है जिसमें लोगों की इच्छाओं और आकांक्षाओं को शामिल किया जा सके। लोग खुद तय करेंगे कि वे कैसा देश और समाज चाहते हैं। (बड़ी पूंजी और नौकरशाहाना तरीकों की कदमताल पर चलता हुआ वर्तमान विकास न केवल प्रकृति को बल्कि मानव और संस्कृति को रौंदता चला जा रहा है। ऐसे में भागीदारी पर आधारित लोकतंत्र का विकास जनता की आवाज को मुखर कर सकता है। यह लोकतंत्र कॉरपोरेट विकास की अवधारणा को ध्वस्त करता हुआ जल-जंगल-जमीन पर लोगों को मिल्कियत स्थापित करेगा।) तब लोग व्यापक भागीदारी और विचार-विमर्श के बाद विकास का रास्ता तय करेंगे न किसी विशेषज्ञ या नौकरशाह के आदेश से। भागीदारी पर आधारित लोकतंत्र की इस लड़ाई में संविधान हमारे साथ है बशर्ते हम उसकी आवाज सुनें।

मानव-निर्मित सूखा

परिणीता दांडेकर एवं हिमांशु ठक्कर

महाराष्ट्र के इस साल के भयानक सूखे की तुलना 1972 से की गई है। लेकिन 1972 की तुलना में 2012 में बारिश की हालत बेहतर रही है। दरअसल गन्ने की खेती के अंधाधुंध प्रसार, बड़े बांधों पर गैर जरूरी जोर, संसाधनों की बरबादी और पानी की उपेक्षा से कृत्रिम मानव-निर्मित संकट पैदा हुआ है।

लेखक द्वय साउथ एशियन नेटवर्क ऑन डेम्स, रिवर्स एंड पीपुल से जुड़े हैं। अंगरेजी से रूपांतर सुशील जोशी ने किया है।

पता:
डेम्स, रिवर्स एंड पीपुल,
86-डी, एडी ब्लॉक,
शालीमार बाग,
दिल्ली-110088

फोन:
011-27484654

ht.sandrp@
gmail.com

महाराष्ट्र इस वर्ष सबसे भयानक सूखे का सामना कर रहा है। केंद्रीय कृषि मंत्री शरद पवार और महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री पृथ्वीराज चौहान दोनों ने कहा है कि इस वर्ष का सूखा 1972 के मुकाबले ज्यादा भीषण है। 1972 के सूखे को अकाल की संज्ञा दी गई थी। इन राजनेताओं द्वारा इस वर्ष के सूखे की तुलना 1972 के सूखे से करना ऐसा आभास देने की कोशिश है कि 1972 के समान इस वर्ष का सूखा भी एक प्राकृतिक विपदा है।

अलबत्ता, यदि हम 17 सूखा प्रभावित जिलों (अहमदनगर, पुणे, शोलापुर, सतारा, सांगली, औरंगाबाद, जालना, बीड, लातूर, उस्मानाबाद, नांदेड़, अकोला, नासिक, धुले, जलगांव, परभणी और बुलढाना) में 1972 व 2012 में बारिश के आंकड़ों की तुलना सामान्य बारिश के पैटर्न से करें, तो एक अलग ही तस्वीर सामने आती है। बारिश के हिसाब से देखें तो इस वर्ष के सूखे को 1972 से बदतर नहीं कहा जा सकता।

इसके बावजूद यदि महाराष्ट्र की हालत खराब है तो इसके कई कारण हैं- महाराष्ट्र सरकार, महाराष्ट्र जल संसाधन नियामक प्राधिकरण (जिसकी स्थापना 2005 में विश्व बैंक के सहयोग से की गई थी) और केंद्र सरकार द्वारा अव्यावहारिक व गैर-जरूरी बड़े बांध बनाने के फैसले, गलत फसलों का चयन, गैर-प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को पानी दिया जाना, पानी की स्थानीय प्रणालियों की उपेक्षा तथा पानी का गैर-जवाबदेह प्रबंधन।

जरा 1972 व 2012 के बारिश के आंकड़ों पर नजर डालते हैं। जून 2012 में सामान्य से 50 प्रतिशत कम बारिश वाले जिले

8 (1972 में 3) थे, जुलाई में एक भी नहीं था (1972 में 9), अगस्त में 3 (1972 में 9) थे, और सितंबर में सिर्फ 1 (1972 में 6) तथा अक्टूबर में मात्र 2 (1972 में 17) थे।

1972 व 2012 में सामान्य से 50 प्रतिशत कम बारिश के वाले जिलों की संख्या की तुलना से एक बात और समझ में आती है कि पूरे वर्षाकाल में और जून को छोड़कर शेष समस्त महीनों में 1972 की बारिश 2012 से कहीं कम रही थी।

इन 17 जिलों की सामान्य बारिश, 1972 में वास्तविक बारिश और 2012 में वास्तविक बारिश के आंकड़ों को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि मात्र दो जिलों (सांगली और धुले) में 2012 की बारिश 1972 के मुकाबले उल्लेखनीय रूप से कम रही है। अन्य 2 जिलों (जालना और सातारा) में 2012 की बारिश 1972 की तुलना में थोड़ी ही कम रही। शेष 13 जिलों में 2012 की बारिश 1972 की अपेक्षा अधिक रही है।

1972 और 2012-13 के सूखों की तुलना करते हुए यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 1971 में भी बारिश कम हुई थी जबकि 2011 में महाराष्ट्र में बारिश सामान्य से अधिक हुई थी और अधिकांश बांध पूरे भर गए थे। 2011-12 के महाराष्ट्र आर्थिक सर्वेक्षण में कहा गया था, '2011 में प्रांत में वर्षा सामान्य से 102.3 प्रतिशत रही थी।' राज्य कृषि आयुक्त ने 2011 में कहा था, 'बारिश के अच्छे वितरण के चलते फसल अच्छी रही है। औसत से अधिक बारिश ने लगभग सारे बांधों को भर दिया है, जो रबी के मौसम में मददगार होगा।'

1972 के बाद 40 सालों में महाराष्ट्र ने बड़ी संख्या में बड़े बांध बनाए हैं। इनका घोषित मकसद तो सूखा प्रभावित इलाकों की मदद करना है। मसलन, औरंगाबाद में जायकवाड़ी परियोजना (1976 में पूर्ण हुई) है, बीड़ में माजलगांव परियोजना (जायकवाड़ी चरण 2), जालना में ऊपरी दूधना और निचली दूधना परियोजनाएं हैं। उस्मानाबाद कुछ हद तक उजनी बांध पर और कुछ हद तक कृष्णा घाटी की परियोजनाओं पर निर्भर है। शोलापुर पूरी तरह उजनी पर निर्भर है। सूखा प्रभावित जिलों के अधिकांश बांधों में फिलहाल उपयोगी भंडारण (लाइव स्टोरेज) शून्य या लगभग शून्य है। इन सारी परियोजनाओं और 2012 में भूजल उपयोग की बढ़ी हुई सुविधाओं की बदौलत 2012 में बारिश में कमी के असर को झेलने में मदद मिलनी चाहिए थी। वैसे भी 2012 में बारिश में कमी 1972 की अपेक्षा कम ही है।

मगर केंद्रीय कृषि मंत्री और महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री का दावा है कि 2012 के हालात 1972 के मुकाबले बदतर हैं। तो इसके क्या कारण हैं?

मानव-निर्मित सूखा

एक तथ्य तो यह है कि महाराष्ट्र में जहां 1970-71 में गन्ना का रकबा 1,67,000 हेक्टेयर था, वहीं 2011-12 में यह छः गुना से ज्यादा बढ़कर 10,22,000 हेक्टेयर हो चुका था (महाराष्ट्र आर्थिक सर्वेक्षण, 2012-13)। देश की सबसे ज्यादा चीनी मिलें (209) महाराष्ट्र में ही हैं। गन्ने की खेती में काफी पानी लगता है।

आंकड़े दर्शाते हैं कि कुछ सूखा प्रभावित जिले (शोलापुर, पुणे, अहमदनगर, सांगली, सातारा, उस्मानाबाद, बीड़, लातूर, नाशिक, जालना, परभणी और औरंगाबाद) राज्य में चीनी उत्पादन के गढ़ हैं। महाराष्ट्र के कुल चीनी उत्पादन में से 79.5 प्रतिशत इन्हीं जिलों में होता है। महाराष्ट्र आर्थिक सर्वेक्षण, 2012-13 के मुताबिक, “31 दिसंबर 2012 तक देश के चीनी उत्पादन में से महाराष्ट्र का हिस्सा 35.3 प्रतिशत था।” अर्थात् महाराष्ट्र के सूखा प्रभावित जिले देश की कुल चीनी में से 28 प्रतिशत का उत्पादन करते हैं।

मार्च 2013 में पुणे, शोलापुर, अहमदनगर और नाशिक जैसे कुछ सूखा प्रभावित जिलों की यात्रा के दौरान हमने देखा कि सड़क के दोनों तरफ गन्ने के खेत खत्म होने का नाम ही नहीं ले रहे थे। इनमें से कई खेतों में गन्ना



रेखांकन: इरफान

अगस्त 2012 के बाद लगाया गया था, जबकि उस समय तक पता चल चुका था कि उस वर्ष महाराष्ट्र सूखे का सामना करने वाला है। दरअसल, वसंतदादा पाटील चीनी संस्थान द्वारा प्रकाशित शुगर डायरी, 2013 में बताया गया है कि शोलापुर जिले में 20 नए चीनी कारखानों को स्वीकृति दी गई है (अन्य लोगों ने हमें बताया कि यह आंकड़ा वास्तव में 31 है)। इनमें से 5 माधा में हैं जो शरद पवार का चुनाव क्षेत्र है।

शोलापुर सूखे के चलते गंभीर समस्याओं से जूझ रहा है और माधा में स्थिति बदतर है। मगर राजनेताओं के स्वामित्व वाले शकर कारखानों को धड़ल्ले से मंजूरीयां मिल रही हैं। बिल्डर्स इन्हीं सूखा प्रभावित क्षेत्रों में स्विमिंग पूल युक्त भवनों के विज्ञापन कर रहे हैं। और तो और, महाराष्ट्र सरकार प्रतिदिन कृष्णा व भीमा घाटी से लाखों घन मीटर पानी कोंकण क्षेत्र को भेज रही है, जहां अच्छी वर्षा (औसत 300 से.मी.) होती है।

अधिकांश इलाकों में पानी की कमी का सामना गरीब लोग और मवेशी कर रहे हैं। लगता तो यह है कि जिन लोगों के पास पैसा और ताकत है, उन्हें जितना चाहें और जिस भी काम के लिए चाहें पानी मिल रहा है। कोई अचरज की बात नहीं कि एनडीटीवी ने 29 मार्च 2013 के अपने कार्यक्रम में राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी के नेताओं पर आरोप लगाया था कि वे सूखे की परिस्थिति में पानी की चोरी कर रहे हैं।

हैरत की बात है कि 19 मार्च 2013 के बाद प्रकाशित महाराष्ट्र आर्थिक सर्वेक्षण, 2012-13 में इस बात का जिक्र नहीं है कि राज्य सूखे की चपेट में है। सर्वेक्षण में बताया गया है कि 2012 के मानसून के दौरान महाराष्ट्र में बारिश की कमी 9.7 प्रतिशत रही और 10 जिलों तथा 136 तालुका में कमी 25 प्रतिशत की है। फिर भी सर्वेक्षण में

कहा गया है कि 13 जिलों (औरंगाबाद, जालना, बीड़, उस्मानाबाद, नांदेड़, अहमदनगर, नाशिक, जलगांव, पुणे, सातारा, सांगली, शोलापुर और बुलढाना) में पानी की उपलब्धता की स्थिति चिंताजनक है।

निष्कर्ष

महाराष्ट्र जल संसाधन नियामक प्राधिकरण और राज्य की अन्य संस्थाएं जायकवाड़ी और उजनी बांधों तथा इनके ऊपर के बांधों में जल स्तर का प्रबंधन करने में पूरी तरह असफल रही हैं। सूखा प्रभावित क्षेत्र में गन्ने का रकबा तथा गन्ना पिराई पर अंकुश लगाने या उजनी के बैकवॉटर क्षेत्र के आसपास गन्ने की फसल पर नियंत्रण के कोई गंभीर प्रयास नहीं किए गए। इसके अलावा नांदुर मध्यमेश्वर जैसे कई बांधों के ऊपर अपस्ट्रीम क्षेत्र या माजलगांव परियोजना के नहर तंत्र से उद्धन को भी नियंत्रित नहीं किया गया। इसी प्रकार से सीधे नदियों में से पानी लेकर गन्ना उगाने के कार्यों पर भी प्रतिबंध नहीं लगाया

गया और न ही कई गैर-जरूरी पानी-खर्ची गतिविधियों पर रोक लगाई गई। दरअसल, सारे प्रयास सूखा प्रभावित इलाकों में गन्ने का रकबा बढ़ाने या अन्य पानी-खर्ची गतिविधियों को बढ़ावा देने की दिशा में हुए हैं।

1972 के भीषण सूखे के 40 साल बाद, सिंचाई परियोजनाओं पर अरबों रुपया खर्च करने और जल प्रबंधन के लिए अनगिनत संस्थाएं और प्राधिकरण स्थापित करने के बावजूद महाराष्ट्र इस साल बदतर स्थिति में है।

जहां 1972 के सूखे को प्राकृतिक विपदा कहा जा सकता है, वहीं 2012-13 का सूखा सरकार और राजनेताओं द्वारा अपनाई गई गलत जल प्रबंधन नीतियों का नतीजा है। इसमें सूखा प्रभावित इलाकों के लिए अनुपयुक्त निहायत पानी-खर्ची फसल चक्र शामिल है। इसके अलावा शीर्ष से संचालित संस्थाएं भी जिम्मेदार हैं जिनमें स्थानीय भागीदारी और पारदर्शिता का अभाव है। संवेदनशील आपदा प्रबंधन प्रणाली तथा बदलती जलवायु में जल प्रबंधन के एक दूरगामी नजरिए का भी अभाव है और भ्रष्टाचार तो है ही।

बड़े बांध और समझदारी का सूखा

अजय दांडेकर एवं शाहजी नरवड़े

देश के सबसे ज्यादा बांध महाराष्ट्र में ही हैं। 2009 तक महाराष्ट्र में 1845 बांध बन चुके थे। लेकिन इन बांधों का कोई नतीजा नहीं दिख रहा है। राज्य के आर्थिक सर्वेक्षण के मुताबिक 2011-12 में महाराष्ट्र के कुल बौए गए रकबे का केवल 17.9 फीसदी सिंचित था, जबकि राष्ट्रीय औसत 45 फीसदी है। महाराष्ट्र के बांधों में 90 फीसदी सिंचाई के मकसद से ही बने हैं, फिर भी यह हालत है। इतने बांध बनने के बावजूद महाराष्ट्र की 65 फीसदी सिंचाई कुओं से होती है, नहरों से नहीं। इस वर्ष जब पानी की सबसे ज्यादा जरूरत है, ये बांध खाली पड़े हैं।

ऐसा क्यों है, इसे समझने के लिए मराठवाड़ा क्षेत्र में सिंचाई के लिए बने सबसे बड़े बांध को लें। औरंगाबाद जिले में पैठन के पास जायकवाड़ी नामक स्थान पर गोदावरी नदी पर यह बांध 1965 में शुरू हुआ और 1976 में पूरा हुआ। इसकी योजना में यह माना गया था कि बांध में 215 अरब घनफुट पानी बह कर आएगा। इसमें 115 अरब घनफुट पानी ऊपर के क्षेत्र के उपयोग के लिए सुरक्षित रहेगा और 100 अरब घनफुट पानी इस योजना के कमांड क्षेत्र में सिंचाई के लिए उपलब्ध रहेगा। योजना का कमांड क्षेत्र औरंगाबाद, जालना, बीड़, नांदेड़ और परभणी जिलों में है। लेकिन ऊपर के क्षेत्र में नासिक व

अहमदनगर जिलों में 190 अरब घनफुट पानी संग्रहित करने वाले बांध बन गए। इस तरह जायकवाड़ी बांध खाली रहने लगा। मूल प्रोजेक्ट में माना गया था कि हर चार में से तीन सालों में जायकवाड़ी बांध पूरा भरेगा, लेकिन वह मुश्किल से पांच में से एक साल भरता है।

राष्ट्रीय स्तर पर भी बड़े बांधों की उपयोगिता पर कई सवाल उठते हैं। भारत सरकार ने 1991 से 2007 के बीच बड़े व मध्यम बांधों पर करीब 1,30,000 करोड़ रु. खर्च किए हैं। लेकिन बांधों से सिंचित क्षेत्र कम होता गया है। नब्बे के दशक की शुरुआत में देश में नहरों से 177.9 लाख हेक्टेयर भूमि सिंचित हो रही थी। वर्ष 2004 में यह घटकर 146 लाख हेक्टेयर रह गई।

विडंबना यह है कि वाटरशेड आंदोलन में महाराष्ट्र अग्रणी रहा है, जिसमें विकेंद्रित रूप से गांव के स्तर पर पानी को रोका जाता है और यह काफी कम खर्च पर होता है। इसके बावजूद बड़े बांधों के प्रति यह मोह और पागलपन क्या दिखाता है? समझदारी और विवेक का अभाव या बड़े बांधों में बड़े कमीशन और बड़े घोटालों का आकर्षण, या दोनों?

(इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 4 मई 2013, में प्रकाशित आलेख पर आधारित)

कंपनियों की झोली में मुंबई के स्कूल

अनिल सद्गोपाल

मुंबई के सारे सरकारी स्कूल और उनकी महंगी जमीन एक झटके में निजी हाथों में दिए जा रहे हैं। पीपीपी(निजी-सरकारी साझेदारी) का मतलब है पैसा जनता का, मुनाफा कंपनियों का। यह एक खतरनाक शुरुआत है।

डा. अनिल सद्गोपाल देश के एक प्रमुख शिक्षाविद हैं जो शिक्षा के उदारवादी हमलों के खिलाफ लगातार आवाज उठाते रहे हैं। वे अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच के अध्यक्ष मंडल के सदस्य तथा इसके मुखपत्र 'तालीम की लड़ाई' के संपादक हैं।

पता:
ई- 8/29,
सहकार नगर,
भोपाल म.प्र.- 462039

फोन :
09425600637

anilsadgopal
@yahoo.com

पिछले कुछ समय से भारत की शिक्षा व्यवस्था पर हो रहे नवउदारवादी हमलों की रफतार और तेवर और भी तेज हो गए हैं। शायद देशभर में सबसे खतरनाक हमले की पहचान मुंबई महानगर की स्कूली शिक्षा पर हुए हालिया हमले के रूप में करना सटीक होगा। 23 जनवरी 2013 को बृहन्मुंबई महानगरपालिका (मनपा) की आमसभा में एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसके जरिए मनपा द्वारा चलाए जा रहे सभी 1,174 स्कूलों को 'निजी हाथों' में सौंपने का ऐलान किया गया। प्रस्ताव में इन स्कूलों को 'निजी हाथों' में सौंपने के लिए सार्वजनिक-निजी साझेदारी (पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप यानी पीपीपी) के विभिन्न मॉडल अपनाने का ब्यौरा है। इनके तहत प्रस्ताव में स्कूल का पूरा प्रबंधन सौंपने से लेकर शिक्षकों की सेवाएं, शिक्षकों पर निगरानी व नियंत्रण, पाठ्यचर्या, शिक्षण पद्धति, शैक्षणिक सामग्री की आपूर्ति आदि तक सौंपने की प्रक्रिया और शर्तों का उल्लेख है। हालिया अनुभवों के आधार पर हम विश्वास से कह सकते हैं कि 'निजी हाथों' में घरेलू या विदेशी कारपोरेट घराने, अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित एनजीओ और धार्मिक संगठन शामिल रहेंगे।

शिक्षा के क्षेत्र में पीपीपी का प्रस्ताव सबसे पहले सन् 1999 के आम चुनावों के दौरान भाजपा/राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) के घोषणापत्र में दिया गया था। एनडीए की केंद्रीय सरकार ने पीपीपी को राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लागू करने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी के कार्यालय में एक समिति गठित कर दी थी। कालांतर में इस समिति को योजना

आयोग में स्थानांतरित कर दिया गया। गौरतलब है कि मई 2004 में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) की सरकार बनने के बाद योजना आयोग की वही समिति हूबहू उन्हीं सदस्यों के साथ बरकरार रखी गई और इसने अपनी रपट नवंबर 2004 में प्रधानमंत्री डा. मनमोहन सिंह को पेश की। इस तरह एनडीए के द्वारा पीपीपी के लिए शुरु की गई प्रक्रिया यूपीए सरकार के दौरान न केवल पूरी हुई वरन् घटनाचक्र भी तेजी से आगे बढ़ा। किसी भी राजनीतिक दल ने न संसद में और न ही विधानसभाओं में इसके खिलाफ कोई ठोस आवाज उठाई।

सितंबर 2007 में योजना आयोग की बैठक की अध्यक्षता करते हुए प्रधानमंत्री डा. मनमोहन सिंह ने ऐलान किया कि अब से शिक्षा के सभी स्तरों पर और पहलुओं में नई पहलकदमियों का प्रमुख जरिया पीपीपी होगा। दरअसल, 12वीं योजना में शिक्षा की योजना को पीपीपी की योजना कहा जा सकता है। विडंबना यह है कि जो सरकारें आए दिन शिक्षा के लिए सार्वजनिक धनराशि की बेहद कमी का रोना रोती हैं वहीं सरकारें बेखौफ होकर इस धनराशि और अन्य सार्वजनिक संसाधनों को 'निजी हाथों' को सौंपती हैं।

जरा एक नजर डालिए 'निजी हाथों' के प्रति 'राज्य' की यह 'उदारता' क्या-क्या रूप लेती है- यथा मुफ्त या रियायती दरों पर जमीनें, भवन निर्माण एवं अन्य सुविधाओं के लिए अनुदान, बिजली, पानी एवं बस सेवाओं में सब्सिडी, आयकर में छूट, विद्यार्थियों को रियायती दरों पर लोन देने के नाम पर निजी संस्थानों की फीसें भरना, अनुसूचित जाति/

जनजाति या शिक्षा अधिकार के नाम पर मुट्ठीभर बच्चों या युवाओं के लिए फीस प्रतिपूर्ति, नीति-निर्माण से लेकर पाठ्यचर्चा व शैक्षणिक सामग्री बनाने तक की आउटसोर्सिंग, मध्याह्न भोजन में ठेकेदारी आदि कुछ उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

तो फिर हम वापिस लौटते हैं इस सवाल पर कि मुंबई की मनपा के फैसला को शिक्षा के निजीकरण व बाजारीकरण के दौर में क्यों एक प्रस्थान बिंदु का दर्जा दिया जाए? हमारे जवाबों पर नजर डालिए-

1. नवउदारवादी हमलों की श्रृंखला में यह पहली बार हुआ कि एक संवैधानिक निकाय यानी मनपा अपने सभी स्कूलों, न कि छुटपुट चंदेक स्कूलों को, 'निजी हाथों' में सौंपने का फैसला करे।

2. संभवतः यह भी पहली बार है कि एक संवैधानिक निकाय बेशर्मी से कह रहा है कि शिक्षा की गुणवत्ता सुधारना उसके बलबूते के बाहर हो गया है। और इसलिए उसे कारपोरेट घरानों, एनजीओ और धार्मिक संगठनों का सहारा लेना पड़ेगा।

3. प्रस्ताव में दर्ज है कि पीपीपी लागू करने का फैसला संविधान की नहीं, बल्कि विश्व बैंक व डीएफआईडी (ब्रिटिश सरकार का विभाग) की तर्ज पर लिया जा रहा है।

4. गौरतलब है कि अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़नेवाली मनपा के इस प्रस्ताव को आमसभा में मौजूद उन सभी राजनीतिक दलों का समर्थन मिला है जिन्होंने संविधान की शपथ ली है।

5. यह सवाल भी उठाया नहीं गया कि जो स्कूल पीपीपी के जरिए 'निजी हाथों' को सौंपे जाएंगे उनमें से हरेक की अरबों रुपयों की जमीनें व भवन सार्वजनिक संपत्ति हैं जिनको खड़ा करने में किसी भी कारपोरेट घराने या एनजीओ का एक भी पैसा नहीं लगा है। तो उनको इतनी बड़ी घुसपैठ करने का हक किस कानून के तहत दिया जा रहा है?

6. अभी तक एक बार भी सार्वजनिक बहस का आयोजन नहीं किया गया। यह भी जरूरी नहीं समझा गया कि इन स्कूलों में पढ़ने वाले 4 लाख बच्चों के अभिभावकों की राय ले ली जाए।

7. इन स्कूलों के 11,500 शिक्षक-शिक्षिकाओं की सेवाएं भी 'निजी हाथों' के हवाले करने का फैसला लेने के पहले जरूरत नहीं समझी गई कि उनसे सलाह-

मशविरा कर लिया जाए। इस संदर्भ में असली खतरा इस बात का है कि मनपा के सबसे बड़े शिक्षक संगठन के नेतृत्व ने पीपीपी के प्रस्ताव को मौन स्वीकृति दे रखी है और शिक्षक-शिक्षिकाओं से राय लेना भी जरूरी नहीं समझा है।

8. जिन 'निजी हाथों' को स्कूलों का प्रबंधन या उसके विभिन्न पक्ष (अकादमिक समेत) सौंपे जा रहे हैं उनमें से किसी के पास भी शिक्षा का कोई खास अनुभव नहीं है। खासकर गरीब बच्चों को पढ़ाने के अनुभव की बात तो दूर उनके प्रति सरोकार तक का सबूत नहीं है। तो फिर इनके पास केवल एक क्षमता है- शिक्षा को मुनाफे का जरिया बनाना। तय है कि इसी आधार पर मनपा ने उक्त फैसला लिया है।

9. मनपा 8 भाषाओं के स्कूल चलाती है जिसमें मराठी के अलावा हिंदी, गुजराती व उर्दू से लेकर तमिल, तेलगू, कन्नड़ व अंग्रेजी भाषाओं के स्कूल भी शामिल हैं। मनपा के प्रस्ताव में इन स्कूलों के भविष्य के बारे में एक भी शब्द नहीं है।

10. विगत तीन सालों से मनपा का शिक्षाई बजट दोगुना हो गया है। अब यह बढ़ा हुआ बजट पीपीपी के नाम पर 'निजी हाथों' को हस्तांतरित किया जाएगा, न कि सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था के बेहतरिकरण के लिए खर्च होगा।

ऐसे नकारात्मक राजनीतिक हालात में एक सकारात्मक संकेत। महाराष्ट्र के विभिन्न अंचलों में कार्यरत 17 संगठनों ने एकजुट होकर पीपीपी के जरिए मुंबई की सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था के बाजारीकरण के इस फैसले को पलटवाने का संकल्प ले लिया है। उन्हें समझ में आ गया है कि आज जो मुंबई में हुआ है, कल पुणे, कोल्हापुर, नासिक, नागपुर, औरंगाबाद और रत्नागिरी की बारी भी आना तय है और उसी क्रम में जिला परिषदों की बारी भी हर हाल आएगी। इसलिए यदि अपने-अपने शहरों या जिलों की शिक्षा व्यवस्था पर संविधान और जनता का लोकतांत्रिक नियंत्रण बरकरार रखना है, शिक्षा को बिकाऊ माल बनने से रोकना है और स्कूलों के बेहतरिकरण के लिए जन-आधारित विश्वसनीय कदम उठाने हैं तो मुंबई के इस खतरनाक फैसले को रुकवाना न केवल महाराष्ट्र की जनता का सवाल है वरन पूरी भारत की जनता का सवाल है।

(‘तालीम की लड़ाई’ से साभार)

जारी है आदिवासियों की त्रासदी

रामचंद्र गुहा

एक लोकतांत्रिक
सरकार
नक्सलियों की
हिंसा के जवाब
में उनके ही
तरीकों का
इस्तेमाल नहीं
कर सकती।
सलवा जुडुम के
अत्याचारों,
कंपनियों को
खनन की लीजों
और आदिवासियों
के बुनियादी हकों
की अनदेखी ने
हालात को
बिगाड़ा।
आदिवासियों के
साथ न्याय और
भलाई के काम ही
नक्सलियों का
सही व करारा
जवाब है।

रामचंद्र गुहा चर्चित
लेखक और
इतिहासकार हैं।

‘द हिंदू’ में 28 मई
2013 को प्रकाशित इस
लेख का अंगरेजी से
अनुवाद उपेन्द्र शंकर ने
किया है।

2006 की गर्मियों में छत्तीसगढ़ के कांग्रेसी नेता महेन्द्र कर्मा से मेरी लंबी बातचीत हुई। मेरे साथ उस नागरिक जांच दल के 5 सदस्य और थे, जो कि छत्तीसगढ़ राज्य के दंतेवाड़ा जिले में चल रहे संघर्ष को समझने और उसके परिणामों की जांच करने आया था। इस संघर्ष में एक तरफ नक्सलवादी थे और दूसरी तरफ श्री कर्मा की देखरेख में बनाई गई सेना। विचित्र बात यह थी कि सलवा जुडुम के नाम से चल रहे इस सैनिक अभियान को प्रतिपक्ष नेता श्री कर्मा के साथ छत्तीसगढ़ के भाजपाई मुख्यमंत्री रमन सिंह का भी भरपूर सहयोग प्राप्त था। इस क्षेत्र में नक्सल कार्यकर्ता 1980 में सक्रिय हुए। उन्होंने आदिवासियों के लिए अधिक मजदूरी मांगने के साथ, व्यापारियों व जंगल के ठेकेदारों को परेशान करना शुरू कर दिया और स्थानीय पुलिस वालों पर हमले भी शुरू किए। इस सदी के पहले दशक में उनका आतंक अचानक काफी बढ़ गया। बहुत से तेलगूभाषी नक्सल कार्यकर्ता उस क्षेत्र में पहुंच गए। इस प्रकार यह क्षेत्र नक्सलवादियों की भाषा में ‘मुक्त क्षेत्र’ बन गया।

नक्सलवादियों के लिए क्रांति बंदूक की नली से निकलती है। वे हिंसा की पूजा करते हैं। लोकतंत्र और लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए वे एक बड़ा खतरा हैं। सवाल यह है कि छत्तीसगढ़ की लोकतांत्रिक पद्धति से चुनी हुई सरकार इस खतरे से कैसे निपटे? हमारे विचार से सरकार को दोहरी रणनीति अपनानी चाहिए थी - 1. कुशल पुलिस कार्य- जिसमें नक्सलवादियों के सक्रिय क्षेत्रों को चिन्हित कर, उनके नेताओं को अलग कर देना। 2. आदिवासियों को जंगल और जमीन के

अधिकार देने के संवैधानिक उपायों को ईमानदारी से लागू करना तथा उनके लिए स्वास्थ्य एवं शिक्षा की व्यवस्था बेहतर बनाना।

लेकिन छत्तीसगढ़ सरकार ने दोनों काम नहीं किए। इसके विपरीत उन्होंने एक तरफ तो वहां ग्राम पंचायतों के विरोध को दरकिनार करते हुए आदिवासियों की बहुत सारी जमीनें कारखानों और खदान कंपनियों को लंबे समय के लिए लीज पर दे दी। दूसरी तरफ सलवा जुडुम सेना को आगे बढ़ाया, महेन्द्र कर्मा और उनके साथियों से जुड़े सलवा जुडुम के नौजवानों को बंदूकें बांटी। सलवा जुडुम के ये गुंडे कथित नक्सलवादियों की तलाश में गांव-गांव घूमने लगे और जो आदिवासी उनके साथ शामिल नहीं हुए उन्होंने उनके घरों को जलाया, बलात्कार किए और लूटपाट की।

जवाब में नक्सलियों ने अपनी हिंसक गतिविधियां और तेज कर दी। उन्होंने भी सलवा जुडुम के नेताओं और उनके मुखबिरों की हत्या करना शुरू कर दी। पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों पर दुस्साहसी हमले किए। नक्सलियों और सलवा जुडुम दोनों के हमलों ने पूरे इलाके में आतंक मचा दिया। लगभग डेढ़ लाख लोग गांव खाली करके दूसरी जगह जाने को मजबूर हुए। बड़ी संख्या में लोग दंतेवाड़ा की सड़कों के किनारे टेंटों में रहने लगे। उनके खेत, मकान, जानवर सब छूट गए। काफी लोग राज्य की सीमा पार कर आंध्रप्रदेश में चले गए। एक आदिवासी के शब्दों में ‘एक तरफ नक्सलवादी और दूसरी तरफ सलवा-जुडुम और हम बीच में पिस गए।’

अपने इस अध्ययन के दौरान हमारा जांच दल छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर में

सरकार के उच्च अधिकारियों से भी मिला। उन्होंने व्यक्तिगत तौर पर कहा कि सलवा जुद्ध एक भयंकर गलती है, लेकिन कोई भी राजनीतिज्ञ इसे मानने को तैयार नहीं। इसी दौरान हम सलवा जुद्ध के संगठनकर्ता महेन्द्र कर्मा से भी मिले। उन्होंने कहा कि वे एक 'धर्म युद्ध' लड़ रहे हैं। जब हमने पूछा कि इस युद्ध का परिणाम तो शुभ नजर नहीं आ रहा क्योंकि हमने जले हुए घरों को और ज्यादती की शिकार महिलाओं को देखा है। तब उन्होंने कहा कि - 'बड़े आंदोलनों में कभी-कभी ऐसे छोटे-मोटे अपराध हो जाते हैं।' यह सुनकर मुझे अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति जार्ज बुश की याद आ गई। उनके द्वारा लड़े गए कथित धर्म युद्ध में भी बेगुनाह नागरिकों के मारे जाने की परवाह कभी नहीं की गई। लेकिन यहां पर सवाल है कि जिहादियों या नक्सलवादियों के जवाब में क्या एक लोकतांत्रिक सरकार को उसी तरह से अनैतिक और खून का प्यासा बनना चाहिए? नागरिकों पर अत्याचार, हजारों-हजार नागरिकों का विस्थापन, इन सभी मायनों में दंतेवाड़ा मुझे ईराक और अफगानिस्तान का एक छोटा रूप लगा।



सामार: द हिन्दू

रायपुर से हम लोग दिल्ली गए। दिल्ली में हम प्रधानमंत्री, गृहमंत्री और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार से मिले। लेकिन उन्होंने इस त्रासदी पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसलिए हम लोगों ने 2007 में उच्चतम न्यायालय में जनहित याचिका लगाकर सलवा जुद्ध को रोकने की मांग की। चार साल बाद उच्चतम न्यायालय ने अपने आदेश में छत्तीसगढ़ सरकार को झिड़कते हुए कहा कि उसने राज्य में एक अमानवीय वातावरण बना दिया है जिसमें कि वंचित तबकों के नौजवानों के हाथों में किताबों के बदले लूटपाट के लिए बंदूकें थमाई जा रही हैं। अशिक्षित आदिवासियों को हथियारबंद कर सरकार ने मानव अधिकारों के उल्लंघन का राज कायम कर दिया है और नक्सलवादियों जैसे ही तरीके अपनाए हैं।

राज्य सरकार ने उच्चतम न्यायालय की फटकार को अनदेखा कर दिया। सलवा जुद्ध को नए नाम और नए तरीके से चलाती रही। केंद्र सरकार भी आदिवासियों के हितों के बजाए खनन लाबी के हितों को बढ़ावा देती रही। दंतेवाड़ा में एक दशक पहले जो खूनी संघर्ष शुरू हुआ, महेंद्र कर्मा और उसके साथियों का मारा जाना उसी की नवीनतम कड़ी है। केंद्र और राज्य सरकारें अब क्या

करेंगी? क्या फौज और वायुसेना द्वारा नक्सलवादियों पर हमला करेगी, जिसके लिए अखबारों के संपादक और टीवी उद्घोषक उकसा रहे हैं? बगैर यह सोचे कि इसमें कितने बेगुनाह मारे जाएंगे? उम्मीद है कि सदबुद्धि आएगी और ऐसा नहीं होगा। वक्त की जरूरत है कि बदले की हिंसा के बजाए मध्य भारत में रहने वाले इस गणतंत्र के सबसे वंचित- दलित (दलितों से भी ज्यादा) नागरिकों के असंतोष के कारणों पर गहराई से विचार किया जाए।

दंतेवाड़ा के अनुभव के बाद 2006 की सर्दियों में मैंने भुवनेश्वर में एक मीटिंग में भाषण दिया। मुख्यमंत्री नवीन पटनायक भी श्रोताओं में उपस्थित थे। मैंने कहा कि आदिवासियों की जमीनों पर खदानों की लीज देने का सिलसिला बंद होना चाहिए। लेकिन देशी-विदेशी खनन कंपनियों को राज्य में बुलाया जाता रहा, जिनकी परियोजनाओं में आदिवासियों की कोई साझेदारी नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि जिस ओडिशा राज्य में नक्सलवादी नहीं थे, वहां भी कई जिलों में नक्सली गतिविधियां शुरू हो गईं।

समाजविज्ञानी अजय दांडेकर ने इस विषय पर काफी अध्ययन किया है। उनके अनुसार आदिवासी इलाकों में लोकतंत्र और प्रशासन के पूरी तरह कुप्रबंध का नतीजा नक्सली हिंसा बढ़ने के रूप में आया है। जो लोग कानून के राज्य और संवैधानिक प्रशासन में अभी भी विश्वास रखते हैं, उनके लिए हिंसा का यह ताजा दौर एक चेतावनी है।

मैं अजय दांडेकर से पूरी तरह सहमत हूँ जब वे कहते हैं कि यदि अब भी नीतियां बनाने वाले, आदिवासियों की भलाई एवं उन्हें न्याय देने के कार्य करें तो नक्सलवादी बहुत कमजोर हो जाएंगे और उनकी कार्यप्रणाली पर प्रश्नचिन्ह लग जाएंगे।

इसके लिए पहला कदम यह होना चाहिए कि वर्तमान सरकार के सभी बड़े नेता आदिवासियों से मिलें और बातचीत करें। प्रधानमंत्री और यूपीए सरकार की अध्यक्ष को, छत्तीसगढ़, झारखंड और ओडिशा के समस्याग्रस्त इलाकों का दौरा करना चाहिए। वे वन अधिकार कानून को पूरी तरह से लागू करवाएं, पांचवीं अनुसूची के इलाकों में खनन परियोजनाएं रोकें तथा ग्राम पंचायतों के अधिकारों को पुनर्जीवित करें। मेरी राय में, बड़ी संख्या में फौज भेजने और हवाई हमलों की अपेक्षा नक्सलवादियों पर यह ज्यादा कारगर हमला होगा।

नवाज राज में क्या बदलेगा

सत्येन्द्र रंजन

पाकिस्तान के चुनाव में मतदान का प्रतिशत बढ़ा है। पहली बार असैनिक सरकारों के बीच सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तांतरण हुआ है। पाकिस्तान में लोकतंत्र मजबूत होते दिखता है। लेकिन दहशतगर्दों पर कितना अंकुश लगता है, सेना की क्या भूमिका रहती है और कारोबारी हितों के समर्थक नवाज शरीफ जनहित में कितने कदम उठाते हैं, इस पर पाकिस्तान का भविष्य निर्भर करेगा।

सत्येन्द्र रंजन वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक हैं।

पता:
जनसत्ता आवास
समिति, सेक्टर 9,
वसुंधरा, जिला
गाजियाबाद, उ.प्र.

फोन :
0981 1999269
satyendra.ranjan
@gmail.com

यह अच्छी बात है कि नवाज शरीफ अपने नए शासनकाल को लेकर उम्मीदें ज्यादा नहीं बढ़ाना चाहते। वे जानते हैं कि घरेलू मोर्चे पर उनके सामने विकट चुनौतियां हैं और अंतरराष्ट्रीय मामलों में- खासकर अमरीका के साथ ड्रोन हमलों तथा अन्य विवादों पर समाधान की निकट भविष्य में संभावना नहीं है। संभवतः इसीलिए शरीफ ने पाकिस्तान के प्रधानमंत्री पद की शपथ लेने के समय बिना किसी लाग-लपेट के कहा कि वह आवाम से कोई आकर्षक वादे नहीं करेंगे, ना ही काल्पनिक स्वर्ग को धरती पर उतार लाने की बात कहेंगे। उन्होंने ध्यान दिलाया कि अर्थव्यवस्था इतनी बदहाल है कि उसका शब्दों में वर्णन संभव नहीं है। बिजली की कमी ने देश के ज्यादातर इलाकों को शब्दशः अंधेरे में डाल रखा है। उद्योग और कृषि के संकट ने बेरोजगारी को रिकॉर्ड स्तर पर पहुंचा दिया है। बहरहाल, शरीफ के सामने सबसे बड़ी मुश्किल इस्लामी कट्टरपंथी ताकतों के आतंकवाद को नियंत्रित करने की है और इस मोर्चे पर भी जल्द कामयाबी की संभावना नहीं दिखती।

इसीलिए नए प्रधानमंत्री ने सभी दलों से समान एजेंडा पर एकजुट होने की अपील करते हुए पद संभाला। उन्होंने कहा कि कोई एक पार्टी मुद्दों के पहाड़ को हल नहीं कर सकती। खबरों के मुताबिक शरीफ ने विपक्षी दलों से व्यक्तिगत रूप से संपर्क कर फौरी एजेंडा पर न्यूनतम सहमति बनाने की अपील की है। मगर सियासी होड़ के बीच ऐसा एका सचमुच कायम होगा, इसकी संभावना कम है। यह ठीक है कि विपक्ष में रहते हुए नवाज

शरीफ पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी (पीपीपी)की सरकार को अस्थिर करने की कोशिशों में भागीदार नहीं बने। अगर वह सरकार पांच साल चल सकी तो उसमें उसे अपदस्थ करने की शरीफ की अनिच्छा का भी योगदान था। माना जाता है कि शरीफ ने 1990 के दशक के अनुभवों से सबक सीखा है, जब सेना ने कभी उनका इस्तेमाल कर पीपीपी की सरकार गिराई तो कभी पीपीपी शरीफ की पाकिस्तान मुस्लिम लीग के खिलाफ सेना का हथकंडा बन गई। इस सीख का ही नतीजा है कि नवाज शरीफ अब अधिक परिपक्व नेता नजर आते हैं। इस बारे में अधिक स्पष्ट जनादेश के साथ प्रधानमंत्री बने हैं, तो उन्होंने क्रमिक रूप से देश के मसलों को हल करने का इरादा जताया है।

लेकिन अहम सवाल यही है कि क्या देश की आंतरिक परिस्थितियां इसकी इजाजत देंगी? इस्लामी आतंकवादी एक पल की भी राहत देने को तैयार नहीं हैं। शरीफ के शपथ ग्रहण से दो रोज पहले उन्होंने खैबर पखूनवा प्रांत की असेंबली के लिए नव-निर्वाचित एक सदस्य की हत्या कर अपना इरादा साफ कर दिया। उधर अमरीकी ड्रोन हमलों ने तहरीक-ए-तलिबान से पाकिस्तान सरकार की बातचीत की संभावना को क्षीण कर रखा है। मई में इस संगठन के नंबर दो कमांडर वलिउर रहमान के ड्रोन हमले में मारे जाने के बाद तालिबान ने ऐलान कर दिया कि वह नई सरकार से कोई बातचीत नहीं करेगा। हालांकि शपथ लेने के फौरन बाद शरीफ ने उम्मीद जताई कि अमरीका अब ड्रोन हमले रोक देगा, लेकिन ये साफ है कि यह सिर्फ पाकिस्तान के लोगों को सुनाने

के लिए दिया गया बयान था। शरीफ की प्राथमिकता अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से तुरंत कर्ज लेना है, जो बिना अमरीका से सहयोग के संभव नहीं होगा। जाहिर है, नई सरकार एक सीमा से अधिक अमरीका के खिलाफ नहीं जा सकती।

ऐसे में नवाज शरीफ दहशतगर्दी से देश को कैसे निकालेंगे, यह कयास का विषय है। एक बड़ी मुश्किल यह है कि जनरल मुशर्रफ के जमाने से सेना और नवाज शरीफ के बीच अविश्वास का नाता है, जबकि पाकिस्तान के सत्ता तंत्र पर सेना की पकड़ ऐसी है कि उसकी मर्जी के बिना कोई पहल नहीं हो सकती। इसीलिए इन हालात के बीच पाकिस्तान में नई सरकार का बनना किसी नई शुरुआत का आधार बनेगा, यह उम्मीद रखने का बेहद कमजोर आधार है।

इन सबके बीच चमकती एकमात्र रेखा लोकतंत्र में जनता द्वारा दिखाया भरोसा है। मई में हुए चुनाव के दौरान पाकिस्तान में जिस बड़ी संख्या में वोट मतदान के द्रोत तक पहुंचे वह सचमुच उल्लेखनीय है। इसे दहशतगर्दी के खिलाफ आवाम के खामोश बयान के रूप में देखा जा सकता है। 2008 के चुनाव में सिर्फ 44 प्रतिशत वोट पड़े

थे। पाकिस्तान के चुनाव आयोग के अनुमान मुताबिक इस बार यह संख्या 60 प्रतिशत तक पहुंच गई। इसके बावजूद कि तहरीक-ए-तालिबान पाकिस्तान ने उम्मीदवारों और आम लोगों को खौफजदा करने के लिए प्रचार के दौरान बड़े पैमाने पर खून-खराबा किया। उस हाल में भी चुनाव में भारी जन-भागीदारी देश में लोकतंत्र का जनाधार मजबूत होने का संकेत है। नतीजतन, पाकिस्तान के इतिहास में यह पहली बार संभव हुआ, जब एक से दूसरी असैनिक सरकार के हाथ में सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तांतरण हुआ।

चुनाव में नवाज शरीफ की पाकिस्तान मुस्लिम लीग (नवाज) का सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरना बताता है कि मतदाताओं ने उपलब्ध विकल्पों के बीच उस पार्टी को चुना जिसका लंबा राजनीतिक दांव है और जिसके पास शासन करने का अनुभव है। नवाज शरीफ ने पिछले पांच साल सब्र एवं परिपक्वता का परिचय दिया।

इससे फौज उनसे नाराज हुई। यह आम चर्चा थी कि फौज एवं लोकतंत्र विरोधी अन्य शक्तियों का हाथ इमरान खान की पार्टी तहरीक-ए-इंसाफ की पीठ पर है। गहराते जन असंतोष और ताकतवर समूहों के समर्थन के आधार पर पाकिस्तान के पूर्व क्रिकेट कप्तान ने सियासत में सुनामी लाने की खूब चर्चा की। लेकिन मतदाताओं ने इस पर भरोसा नहीं किया। पीपीपी की अलोकप्रियता और तालिबान द्वारा उसके तथा दूसरे उदारवादी दलों को निशाना बनाने से बने माहौल का कुछ लाभ इमरान खान को जरूर मिला और उनकी पार्टी एक प्रमुख संसदीय दल बनकर उभरने में सफल रही।

बहरहाल, लोकतंत्र के लिए इस आशाजनक घटनाक्रम पर एक धब्बा चरमपंथी समूहों द्वारा फैलाया गया आंतक रहा, जिसके कारण पीपीपी, अवामी नेशनल पार्टी और मुहाजिर कौमी मूवमेंट जैसे दल प्रचार अभियान चला ही नहीं पाए। बंदूक के साये में लोकतंत्र- यह जुमला

तहरीक-ए-तालिबान पाकिस्तान के आतंक के बावजूद बड़ी संख्या में मतदाताओं का वोट डालने निकलना संकेत है कि पाकिस्तान में लोकतंत्र का जनाधार मजबूत हुआ है। यही पाकिस्तान की दीर्घकालिक स्थिरता और उसके विकास के लिए उम्मीद की किरण है।

अक्सर बतौर मुहावरा कहा जाता है, लेकिन पाकिस्तान के संदर्भ में यह शब्दशः लागू होता दिखा। दहशतगर्दी की हिंसा के कारण अपेक्षाकृत उदारवादी राजनीतिक दल निर्भयता से अपना चुनाव प्रचार नहीं कर पाए। अवामी नेशनल पार्टी (एएनपी) के

एक नेता का यह कहना गलत नहीं है कि यह ऐसी चुनावी धांधली है जो पूरे प्रचार अभियान के दौरान जारी रही। बम धमाकों, गोलीबारी, उम्मीदवारों एवं राजनीतिक कार्यकर्ताओं के अपहरण की लगातार जारी घटनाओं के बीच चुनाव स्थगित हो जाने की अटकलें भी लगती रहीं।

तहरीक-ए-तालिबान पाकिस्तान ने मतदान बहिष्कार की अपील कर रखी थी। वैसे चर्चा थी कि यह आतंकवादी संगठन गुपचुप दक्षिणपंथी दलों का समर्थन कर रहा है। इसी कारण जहां पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी (पीपीपी), एएनपी और मुत्तेहिदा कौमी मूवमेंट (एमक्यूएम) चुनाव प्रचार नहीं कर पाए, वहीं पाकिस्तान मुस्लिम लीग (नवाज) और इमरान खान की तारीक-ए-इंसाफ (पीटीआई) चुनावी जलसे निकालने में कामयाब रहीं। पांच साल सरकार चलाने के बाद पीपीपी वैसे भी अलोकप्रिय थी, इसलिए राजनीतिक विश्लेषक पहले इस

चुनाव में नवाज शरीफ या इमरान खान में से किसी एक के सबसे मजबूत होकर उभरने का अनुमान लगा रहे थे। अतंतः जीत नवाज शरीफ को नसीब हुई।

शरीफ कारोबारी समुदाय के हितों के समर्थक रहे हैं और उनकी पार्टी का मजहबी और कट्टरपंथी पार्टियों के साथ गठजोड़ है। ऐसे में यह देखने पर भारत समेत दुनिया के तमाम देशों की नजर है कि उनकी सरकार मजहबी चरमपंथियों एवं दहशतगर्दों को रोकने की कितनी इच्छाशक्ति दिखाती है? 2014 में अफगानिस्तान से अमरीकी फौज की वापसी के बाद वहां की स्थिरता के लिहाज से पाकिस्तान की भूमिका अहम होगी। क्या नई पाक सरकार आतंकवाद निर्यात की नीति को बदलेगी? अगर ऐसा नहीं हुआ तो न सिर्फ अफगानिस्तान बल्कि पूरे दक्षिण एशिया में अस्थिरता चिंताजनक रूप ले सकती है। पाकिस्तान में इससे नई अंदरूनी चुनौतियां भी पैदा होंगी।

बहरहाल, तहरीक-ए-तालिबान पाकिस्तान के आतंक के बावजूद बड़ी संख्या में मतदाताओं का वोट डालने निकलना संकेत है कि पाकिस्तान में लोकतंत्र का जनाधार मजबूत हुआ है। यही पाकिस्तान की दीर्घकालिक स्थिरता और उसके विकास के लिए उम्मीद की किरण है। प्राथमिक संकेत ये हैं कि नवाज शरीफ ने इसके संदेश को समझा है। शरीफ ने भारत के संबंधों के बारे में आशाजनक बातें की हैं। उन्होंने संकेत दिया है कि आपसी व्यापार के जरिए दोनों देशों में बेहतर संबंध बनाने की नीति में वे भरोसा करते हैं। मगर क्या इसे पाकिस्तान की सेना और खुफिया तंत्र ने भी समझा है? जब तक यह नहीं होता, पाकिस्तान की स्थिरता सुनिश्चित नहीं होगी। और तब तक अंतरराष्ट्रीय मामलों में उससे किसी नई पहल की उम्मीद करने का आधार नहीं बनेगा।

वार्ता यहां से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221002, फोन 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला धनबाद, झारखंड 828116, फोन 09835131638
- लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओडिशा, 768028, फोन 09437056029
- जे. पी. सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला बलिया, उत्तरप्रदेश फोन 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्य साहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फरपुर, बिहार, 843116, फोन 09470268745
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छतौनी, मोतीहारी, बिहार 845401, फोन 08271829617
- चंद्र भूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, रांची, झारखंड 834001, फोन 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी 221002, फोन 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेटिया, बिहार 845438, फोन 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन 0542-2454257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महददीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला रोहतास, बिहार 821115, फोन 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्या नं.589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड 263601 फोन 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लाक, खूटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड 831011, फोन 09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियार छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067, फोन 09013183889
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो.रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार 845106
- राजेंद्र बिंदल, 137डी, पाकेट बी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली, 110095 फोन 09266955416
- रोशनाई प्रकाशन, 212 सी. एल/ए., अशोक मित्र रोड, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प.बंगाल, 743145 फोन 033-25850249
- गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला होशंगाबाद, म.प्र. फोन 09425408801

ग्राहक शुल्क भी इनके पास जमा कर सकते हैं।

किस्सा विकिरण के फर्जी आंकड़ों का

सुरेन्द्र गाडेकर एवं सधमित्रा देसाई

राजस्थान में रावतभाटा के परमाणु बिजलीघर के आसपास विकिरण के आंकड़ों में विसंगति थी। जब दो जागरूक वैज्ञानिक उसके पीछे लगे, तो पता चला कि फर्जी तरीके से आंकड़ों को तैयार किया जा रहा है। भारत के परमाणु प्रतिष्ठान की पोल खोलता एक दिलचस्प किस्सा।

डा. गाडेकर भौतिकशास्त्री और डा. देसाई चिकित्सक हैं। दोनों पिछले काफी समय से परमाणु बिजली के खतरों पर जनता को जागरूक करने में लगे हैं।

पता: संपूर्ण क्रांति विद्यालय, वेडडी, जिला सूरत गुजरात.

फोन: 08128527054

anumukti@gmx.net

भारत के परमाणु बिजली प्रतिष्ठानों से संबंधित जानकारियों को गोपनीयता की आड़ में छुपाकर रखा जाता है। इससे इन जानकारियों और आंकड़ों की सार्वजनिक तौर पर जांच, परीक्षा और उन पर बहस नहीं हो पाती है। खास तौर पर परमाणु बिजली कारखानों से निकलने वाले रेडियोधर्मी कचरे और प्रदूषण के आंकड़ों को काफी गोपनीयता के पहरे में रखा जाता है। लेकिन कभी-कभी वे बाहर आते हैं, तब पता चलता है कि वे कितने फर्जी और अविश्वसनीय हैं। इस संबंध में एक किस्सा बड़ा मौजू है।

राजस्थान में कोटा के पास रावतभाटा में भारत का दूसरे नंबर का (तारापुर के बाद) परमाणु बिजली कांप्लेक्स है जहां कई संयंत्र लगे हैं। यहां के वातावरण और मानव जीवन पर परमाणु प्रदूषण के प्रभावों के बारे में एक सर्वेक्षण हमने 1991 में किया था। इस सर्वेक्षण में स्थानीय गांववासियों के स्वास्थ्य पर परमाणु प्रदूषण के दुष्प्रभाव स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आए थे और इससे काफी खलबली मची थी।

इसी सिलसिले में हम रावतभाटा के वातावरण में रेडियोधर्मिता की उपस्थिति के सरकारी आंकड़ों की तलाश में थे। इकाॅनॉमिक टाईम्स, नई दिल्ली के आर. रामचंद्रन (जो अब 'फ्रंटलाइन' के विज्ञान संपादक हैं) ने हमारा ध्यान एक शोधपत्र की ओर आकर्षित किया। दिल्ली में 1991 में छोटे और मध्यम परमाणु संयंत्रों पर एक संगोष्ठी में यह शोधपत्र पेश किया गया था। इसका शीर्षक था 'एनवायरनमेंटल इंपैक्ट ऑफ पीएचडब्ल्यूआर टाईप पावर स्टे शन्स : द इंडियन

एक्सपीरिएंस'। इसे आई एस भट्ट, एम ए आयंगर, आरपी गर्ग, एस कृष्णमणि तथा के सी पिल्लई नाम पांच वैज्ञानिकों ने मिलकर लिखा था। पांचों मुंबई स्थित भाभा एटोमिक रिसर्च सेंटर के वैज्ञानिक थे।

परमाणु संयंत्रों के आसपास रेडियोधर्मी तत्वों की उपस्थिति को नियमित रूप से मापा जाना चाहिए। इस शोधपत्र में 1986 से 1990 तक रेडियोधर्मी तत्वों के माप के आंकड़े दिए गए थे। परमाणु संयंत्रों से कुछ मात्रा में रेडियोधर्मी तत्वों को नियमित रूप से हवा और पानी में छोड़ा भी जाता है। यदि नहीं छोड़ेंगे तो अंदर उनकी मात्रा काफी हो जाएगी और कर्मचारियों-मजदूरों को काम करना मुश्किल हो जाएगा। लेकिन अधिकारी कहते हैं कि ये इतनी कम मात्रा में वातावरण में छोड़े जाते हैं कि उनका किसी तरह का दुष्प्रभाव नहीं होता है। इस शोधपत्र में उसके आंकड़े भी दिए गए थे।

हमने ध्यान से देखा तो दोनों आंकड़ों में एक विसंगति पाई (देखे तालिका)। ट्रिशियम एक खतरनाक रेडियोधर्मी तत्व है जो इन परमाणु संयंत्रों से निकलता है। हमने देखा कि 1986 से 1990 के पांच सालों में संयंत्रों से छोड़े गए ट्रिशियम की मात्रा तो बढ़ते हुए 661 TBq से 2566 TBq हो गई यानी करीब 4 गुनी हो गई। लेकिन संयंत्रों के आसपास 2 से 10 किमी की दूरी में 30 स्थानों पर वातावरण में मापे गए ट्रिशियम की मात्रा बढ़ने के बजाए आधी से भी कम (2.6 से 1.0 Bq/cum³) रह गई। जबकि होना उल्टा चाहिए था। हमें लगा कि या तो मापने में या आंकड़ों को पेश करने में कोई

गलती हुई है या फिर कोई ऐसा कारण है, जो हमारी जानकारी में नहीं है। हमने अपनी पत्रिका 'अणुमुक्ति' के अप्रैल-मई 1993 के अंक (खंड 6, संख्या 5) में 'रुटिन एमिशनस' नामक लेख लिखा तो इस विसंगति की भी चर्चा उसमें की। लेकिन इस पहली का हल खोजने की बात दिमाग में बनी रही।

1991 में हमें एक मौका मिला। काकरापार परमाणु बिजलीघर को शुरू करने के विरोध में नारायण देसाई ने संपूर्ण क्रांति विद्यालय, वेड़छी में अनशन करने की घोषणा की। अनशन के पहले नारायण भाई ने कई लोगों को पत्र लिखा, जिसमें आपातकालीन कोर शीतलीकरण की व्यवस्था दोषपूर्ण होने के बावजूद इसे शुरू करने पर अपना रोष प्रकट किया। गुजरात के पूर्व मुख्यमंत्री और तत्कालीन प्रतिपक्ष के नेता बाबूभाई पटेल ने इस के साथ एक पत्र प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव को लिखा। तब प्रधानमंत्री के निर्देश पर अणु ऊर्जा नियामक बोर्ड के अध्यक्ष डा. सोमन नारायण भाई से मिलने बेड़छी आए। हमने डा. सोमन से रावतभाटा के आंकड़ों की इस विसंगति के बारे में पूछा। डा. सोमन ने कहा कि ट्रिशियम समुद्र में चला जाता है। सुरेन्द्र गाडेकर 'लेकिन राजस्थान में समुद्र कहां हैं?'

डा. सोमन: "ओहो, मैं कल्पक्कम के बारे में बात कर रहा था। राजस्थान में पहाड़ हैं, जिनके कारण वातावरण में एक परत बन जाती है और उसके कारण ट्रिशियम राणाप्रताप सागर जलाशय में चला जाता है।"

सुरेन्द्र गाडेकर: "क्या आप यह कह रहे हैं 100 मीटर ऊंची चिमनी से छूटने पर ट्रिशियम सीधे नीचे जमीन और पानी में गोता लगा जाता है? लेकिन पानी में तो ट्रिशियम की मात्रा बढ़ी हुई नहीं दिखाई दे रही है।"

तब डा. सोमन ने कोई जवाब नहीं दिया। उनके साथ के लोगों ने भाभा अणु अनुसंधान केन्द्र के उन वैज्ञानिकों के नाम जरूर लिख लिए जिनके शोधपत्र में ये आंकड़े आए थे।

एक बार हमने अणु ऊर्जा नियामक बोर्ड के दूसरे अध्यक्ष डा. गोपालकृष्णन से आंकड़ों की इस विसंगति की चर्चा की। उन्होंने कहा, "क्यों परेशान होते हो? तुम्हें तो मालूम है कि ये सारे कैसे बनते हैं?" वे यह भूल गए कि स्वयं उनके बोर्ड की जिम्मेदारी है कि वह इन आंकड़ों की जांच करे और इनका स्वतंत्र मूल्यांकन करे।

फिर 1996 या 1997 में दिल्ली में इंटेक (इंडियन नेशनल ट्रस्ट फॉर आर्ट एंड कल्चरल हेरिटेज) ने 'आणविक नीति और जनता' विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित की। इस संगोष्ठी में हमने रावतभाटा सर्वेक्षण के निष्कर्षों को पेश किया और रावतभाटा में रेडियोधर्मिता के आंकड़ों की विसंगति की स्लाइड भी दिखाई। श्रोताओं में भाभा केंद्र के स्वास्थ्य भौतिकी के विभागाध्यक्ष एस कृष्णमणि भी मौजूद थे, जो उस शोधपत्र के एक लेखक थे। हमने इस विसंगति के बारे में उनका स्पष्टीकरण चाहा, लेकिन उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। सत्र की अध्यक्षता कर रहे

तालिका: रावतभाटा में रेडियोधर्मी तत्व ट्रिशियम की उपस्थिति एवं उत्सर्जन

वर्ष	संयंत्रों से छोड़े गए ट्रिशियम का सालाना औसत (नापने की इकाई TBq)	2 से 10 कि.मी. के दायरे में वातावरण में ट्रिशियम की उपस्थिति (इकाई Bq /cum ³)
1986	661	2.6
1987	1121	1.1
1988	1028	1.3
1989	1471	0.9
1990	2566	1.0

रूड़की आईआईटी के डा. विनोद गौड़ ने भी उनसे जवाब देने को कहा, लेकिन वे बुत बनकर चुप बैठे रहे।

लेकिन हमने उनको छोड़ा नहीं। चाय के अवकाश में उनके पास पहुंच गए। हमने उनसे कहा कि वास्तव में हम इसके बारे में जानना चाहते हैं और इसकी तह में जाना चाहते हैं। तब श्री कृष्णमणि ने स्वीकार किया कि वातावरण में ट्रिशियम की मौजूदगी को केवल एक जगह मापा गया है, जहां संयंत्र से 5 किमी दूर कर्मचारियों की कालोनी है। उनका कहना था कि हमारी दिलचस्पी लोगों में है, इसलिए जहां लोग रहते हैं, वहीं इसे मापा गया है। बाकी जगह तो जंगल है। जब हमने उनसे कहा कि शोधपत्र में तो बताया था कि संयंत्र के 2 से 10 किमी के दायरे में 30 जगहों पर मापक यंत्र लगाकर विभिन्न मौसमों में ट्रिशियम को मापा गया है, तो वे फिर चुप्पी की मूरत बन गए।

अब हमें पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि भारत सरकार के परमाणु प्रतिष्ठान द्वारा परमाणु बिजलीघरों के आसपास रेडियोधर्मी प्रदूषण को नियमित रूप से नापने का काम सही तरीके से नहीं किया जा रहा है और गलत-सलत, काल्पनिक आंकड़े बनाकर पेश किए जा रहे हैं। उनके किसी भी आंकड़े और जानकारी पर भरोसा नहीं किया जा सकता। लेकिन क्या वे ऐसा करके जनता, पर्यावरण और देश के भविष्य के साथ खिलवाड़ नहीं कर रहे हैं

क्या इसका मतलब यह माना जाए कि वे वातावरण में अस्वीकार्य और खतरनाक मात्रा में रेडियोधर्मी प्रदूषण फैला रहे हैं इस सच्चाई को ढकने के लिए इस तरह का फर्जीवाड़ा कर रहे हैं? और क्या किसी और देश में माप और आंकड़ों की इस तरह की जालसाजी को बरदाश्त किया जाता?



साभार: द हिन्दू

सामयिक वार्ता दुकानों पर

कोलकाता :-

राजकमल प्रकाशन पुस्तक केन्द्र
(भारतीय भाषा परिषद् भवन),
36 ए, शेक्सपीयर सारणी
कोलकाता- 700017

वाराणसी :-

सर्वोदय साहित्य भंडार,
प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन,
वाराणसी

:- मध्यप्रदेश :-

दुबे न्यूज एजेंसी,
गोठी धर्मशाला,
रेलवे स्टेशन के सामने,
इंदौर (म.प्र.)

:- पटना

अरुणिमा बुक स्टाल
मौर्या कॉम्प्लेक्स, पटना

:- दिल्ली

गंगा टाबा बस स्टॉप स्टाल,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली- 110067

पश्चिमी घाट का पर्यावरणीय घोटाला

माधव गाडगिल का खुला पत्र

भारत सरकार के पर्यावरण व वन मंत्रालय ने देश के छः राज्यों में फैले पश्चिमी घाट की स्थिति पर विचार करने के लिए प्रतिष्ठित पर्यावरणविद प्रोफेसर माधव गाडगिल की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया था। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 31 अगस्त 2001 को सरकार को सौंप दी थी। समिति की सिफारिशों सरकार को नहीं भाई और उसने गाडगिल समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए एक और उच्च स्तरीय कामकाजी समूह का गठन कर दिया। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) के भूतपूर्व अध्यक्ष और वर्तमान में योजना आयोग के सदस्य के. कस्तूरीरंगन को इस कामकाजी समूह का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

जैसी कि उम्मीद थी कस्तूरीरंगन समूह को गाडगिल समिति की सिफारिशों में कई कमियां नजर आईं और उसने गाडगिल समिति की लगभग सारी सिफारिशों को खारिज कर दिया। इस से विचलित होकर माधव गाडगिल ने कस्तूरीरंगन को एक खुला पत्र भेजा। जिसमें उन्होंने सारे मुद्दों पर अपने विचार रखे हैं।

प्रिय डॉ. कस्तूरीरंगन,

उन्नीसवीं सदी के मशहूर वैज्ञानिक और मानवतावादी जेबीएस हाल्डेन (जिन्होंने स्वेज नहर पर साम्राज्यवादी हमले के विरोध में इंग्लैंड छोड़ दिया था) ने कहा था “हकीकत सिर्फ हमारी कल्पना से ज्यादा विचित्र नहीं बल्कि हमारी कल्पना शक्ति से भी ज्यादा विचित्र होती है।” मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि आप पश्चिमी घाट के संदर्भ में गठित उच्च स्तरीय कामकाजी समूह की रिपोर्ट जैसी हरकत में शामिल होंगे। मगर हकीकत सचमुच हमारी कल्पना से कहीं अधिक विचित्र है।

व्यापक विचार-विमर्श और मैदानी दौरों के आधार पर हमने पर्यावरण व वन मंत्रालय को जो रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, उसमें हमने एक श्रेणी-आधारित व्यवस्था की वकालत की थी और उसमें पर्यावरण की दृष्टि से संवेदनशील पश्चिमी घाट की सुरक्षा के लिए स्थानीय स्तर की भागीदारी की प्रमुख भूमिका रखी थी। आपने इस सोच को खारिज कर दिया है और इसकी जगह आप इस क्षेत्र के दो हिस्से करना चाहते हैं। एक-तिहाई हिस्से को आप प्राकृतिक इलाके (लैण्डस्केप) कहते हैं और सुरक्षा कर्मियों और बंदूकों के बल पर इसकी सुरक्षा की वकालत की है। शेष दो-तिहाई को आपने सांस्कृतिक इलाके (लैण्डस्केप) माना है जिसे (आपके मुताबिक) विकास के लिए खोल दिया जाना चाहिए जैसा कि गोवा

में 35,000 करोड़ रुपए के गैरकानूनी खनन के घोटाले में हुआ है।

यह पर्यावरणीय सर्वनाश के समंदर में विविधता के कुछ टापू बचाकर रखने की कोशिश जैसा है। पर्यावरण का विज्ञान हमें सिखाता है कि इस तरह के बंटवारे का परिणाम यह होगा कि जल्दी ही समंदर टापुओं को लील लेगा। प्राकृतिक परिवेश की निरंतरता के महत्व को समझना जरूरी है। जैव विविधता से समृद्ध क्षेत्रों के दूरगामी संरक्षण के लिए पर्यावरण और स्थानीय समुदाय दोनों से मित्रतापूर्ण व्यवस्था के महत्व को समझना भी जरूरी है। हमने यही प्रस्ताव रखा था।

इसके अलावा, वन्य जैव विविधता की बनिस्बत मीठे पानी (नदियों, तालाबों) की जैव विविधता कहीं ज्यादा खतरे में है और यह अधिकतर उस इलाके में है जिसे आप सांस्कृतिक इलाका कहते हैं। मीठे पानी की जैव विविधता हमारे लोगों के एक बड़े तबके की जीविकाओं और पोषण के लिहाज से भी महत्वपूर्ण है। इसीलिए हमने महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले के लोटे रासायनिक उद्योग संकुल की एक केस स्टडी भी प्रस्तुत की थी। यहां प्रदूषण ने सारी कानूनी सीमाओं का उल्लंघन किया है और इसकी वजह से मछली भंडारों का ऐसा सर्वनाश हुआ है कि उन पर आश्रित 20,000 लोग बेरोजगार हो गए हैं

जबकि मात्र 11,000 व्यक्तियों को उद्योगों में नौकरियां मिली हैं। इस अनुभव के बावजूद सरकार इसी इलाके में और प्रदूषक उद्योग लगाना चाहती है। इसके लिए उसने उद्योगों के स्थान निर्धारण के लिए अपने ही बनाए चिन्हित क्षेत्रों के नक्शे को दबा दिया है।

हैरत की बात है कि आपकी रिपोर्ट में निर्णय के अधिकार के विकेंद्रीकरण की संवैधानिक गारंटी को भी यह कहकर खारिज कर दिया गया है कि आर्थिक निर्णयों में स्थानीय समुदायों की कोई भूमिका नहीं हो सकती। ऐसे में यह कोई अचरज की बात नहीं है कि आपकी रिपोर्ट में हमारे द्वारा प्रस्तुत किए गए इस तथ्य को अनदेखा कर दिया गया है कि एक ओर तो सरकार लोटे में गैर-कानूनी प्रदूषण के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं करती, वहीं

दूसरी ओर, उसने इस प्रदूषण के खिलाफ सर्वथा जायज और शांतिपूर्ण प्रदर्शनों को दबाने के लिए पुलिस बल का उपयोग किया। 2007-09 में 600 में से 180 दिन प्रदर्शनों के खिलाफ बल प्रयोग किया गया।

जिसे आपने भारत के 'सांस्कृतिक इलाके' कहा है उसमें जैव विविधता के कई कीमती घटक फल-फूल रहे हैं। लगभग 75 प्रतिशत सिंह जैसे पूंछ वाले बंदर (बंदरों की एक प्रजाति जो सिर्फ पश्चिमी घाट में पाई जाती है) चाय बागानों के सांस्कृतिक इलाके में ही हैं। मैं पुणे में रहता हूँ और मेरी बस्ती में काफी सारे बरगद, पीपल और गूलर के वृक्ष हैं। ये वृक्ष फाइकस वंश के हैं जिनके बारे में आधुनिक पर्यावरण विज्ञान में बताया जाता है कि ये कीस्टोन बुनियादी महत्व के संसाधन हैं जो तमाम अन्य प्रजातियों

गाडगिल समिति की प्रमुख सिफारिशें

पश्चिमी घाट 6 राज्यों (गुजरात, महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु) में तापी नदी से कन्याकुमारी तक फैली पर्वत श्रृंखलाएं हैं। इसका कुल क्षेत्रफल 1,29, 037 वर्ग किलोमीटर है। माधव गाडगिल की अध्यक्षता में गठित पश्चिमी घाट पर्यावरण विशेषज्ञ पैनल ने सिफारिश की थी संपूर्ण पश्चिमी घाट क्षेत्र को तीन पर्यावरण संवेदनशील भागों में बांटा जाए। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग प्रतिबंध रहेंगे। राज्य सरकार और उद्योगपतियों ने इसे लेकर खूब शोर मचाया क्योंकि उन्हें लगा कि यह रिपोर्ट तो पश्चिमी घाट के लगभग 75 प्रतिशत भाग में विकास कार्यों पर रोक लगाने की बात कर रही है। गाडगिल पैनल के भाग 1 व 2 का क्षेत्रफल पश्चिमी घाट के कुल क्षेत्रफल का लगभग 75 प्रतिशत है।

माधव गाडगिल की अध्यक्षता में पैनल ने निम्नलिखित प्रमुख सिफारिशों की थीं:-

1. पूरे पश्चिमी घाट को पर्यावरण की दृष्टि से संवेदनशील मानते हुए संवेदनशीलता के तीन क्षेत्रों में विभाजन। इन्हें संवेदनशील क्षेत्र 1, 2 व 3 कहा गया था।

2. इन तीन क्षेत्रों में प्रतिबंधों का स्तर अलग-अलग होगा और क्षेत्रों व उनके प्रबंधन का फैसला

स्थानीय स्तर पर लोगों के साथ विचार-विमर्श के जरिए होगा। इसमें ग्राम सभा की प्रमुख भूमिका होगी।

3. पैनल की सिफारिश है कि प्रथम श्रेणी के संवेदनशील क्षेत्र में अतिरापल्ली व गुंदिया समेत किसी बड़े बांध के निर्माण की अनुमति न दी जाए।

4. गोवा में संवेदनशील क्षेत्र 1 व 2 में नए खनन कार्य की अनुमति न दी जाए और क्षेत्र 1 में वर्तमान में चल रहे खनन कार्य को 2016 तक क्रमशः समाप्त कर दिया जाए।

5. कुछ जिलों में उपरोक्त के अलावा नए ताप बिजलीघरों व अन्य प्रदूषक उद्योगों पर भी प्रतिबंध लगाया जाए और वर्तमान उद्योगों को शून्य प्रदूषण पर लाया जाए।

6. पैनल ने इस इलाके में मौजूद पर्यावरण जागरूकता की प्रशंसा करते हुए कहा था कि वर्तमान प्रशासन प्रणाली में इस जागरूकता का कोई उपयोग नहीं हो रहा है। पैनल ने हर स्तर पर नागरिकों को जोड़ने की बात कही थी।

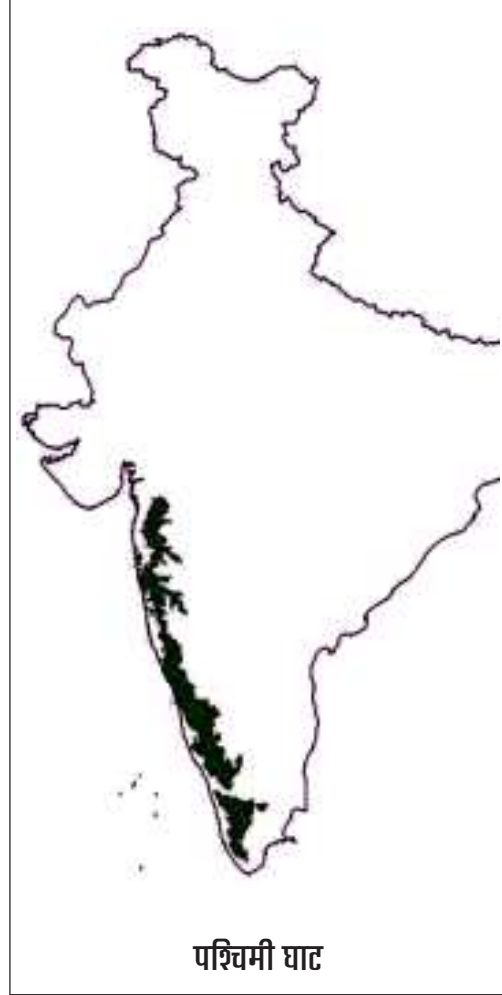
उद्योगपतियों ने इन सिफारिशों का डटकर विरोध किया और सरकार ने के. कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता में एक नई समिति गठित कर दी। कस्तूरीरंगन समिति को गाडगिल पैनल की रिपोर्ट की समीक्षा करने का काम सौंपा गया।

को सहारा देते हैं। रात को मैं मोरों की पुकार सुनता हूँ, और सुबह उठकर जब मैं छत पर जाता हूँ, तो वे नाचते हुए दिखाई पड़ते हैं। हमारे लोगों ने प्रकृति के प्रति सम्मान से ओत प्रोत सांस्कृतिक परंपराओं में रचे बसे पवित्र वनों, फाइकस वृक्षों, बंदरों और भोरों की पूजा व रक्षा की है। मगर (आपकी रिपोर्ट से) लगता है कि इस सबको तिलांजलि दे देना चाहिए। इससे मुझे ब्रिटिश साम्राज्य के घोषित एजेंट फ्रांसिस बुकानन की बात याद आ रही है। उन्होंने 1801 में लिखा था कि भारत के 'पवित्र वन' महज एक बहाना है ताकि ईस्ट इंडिया कंपनी को इन्हें अपनी संपत्ति घोषित करने से रोका जा सके।

ऐसा लगता है कि आज हम अंग्रेजों से भी ज्यादा अंग्रेज हैं और दावा कर रहे हैं कि सांस्कृतिक इलाके में एक प्रकृति-स्नेही तरीका मात्र एक बहाना है ताकि देश के अमीर व ताकतवर लोगों और वैश्वीकृत दुनिया को सारे पानी और जमीन पर कब्जा करने और अराजक, रोजगार-विहीन आर्थिक विकास के लिए उनका दोहन करने व उन्हें प्रदूषित करने से रोका जा सके।

आश्चर्य की बात है कि आपकी रिपोर्ट इस तरीके का जोरदार समर्थन करती है। हकीकत सचमुच हमारी कल्पना से भी ज्यादा अजीब है।

अभिवादन सहित,
भवदीय
माधव गाडगिल



सूचनाएं

यदि आप वार्ता का शुल्क मनीऑर्डर से भेज रहे हैं, तो कृपया अपना पता अलग से (डाक से, एसएमएस से या ईमेल से) जरूर भेज दें। आजकल मनीऑर्डर इलेक्ट्रॉनिक तरीके से आने के कारण पूरा और स्पष्ट पता नहीं मिलता है।

यदि आप वार्ता का शुल्क सीधे बैंक खाते में जमा कर रहे हैं, तो कृपया हमें सूचना जरूर दें। अपना पता अलग से हमें भेज दें।

यदि आप सामयिक वार्ता के ग्राहक हैं और आपको वार्ता नहीं मिल रही है तो कृपया निम्न जानकारी हमें दें: ग्राहकी का प्रकार (वार्षिक, पांच वर्षीय या आजीवन), आप कब ग्राहक बने थे, आपको किसने बनाया था, आपको कब से वार्ता नहीं मिल रही है, क्या आपका पता बदला है (यदि बदला है तो नया पता)।

ग्राहकी का नवीनीकरण

आपका शुल्क समाप्त होने की सूचना वार्ता में एक परची रखकर आपको भेजी जाती है। वार्ता मिलना बंद न हो, इसलिए शीघ्र नवीनीकरण करवाएं। नवीनीकरण की इंडेंट से बचने के लिए यदि आप इकट्ठा दो वर्ष (200 रु.), पांच वर्ष का (600 रु.) या आजीवन शुल्क (2000 रु.) जमा कर सकते हैं, तो बेहतर है।

-प्रबंधक
फोन 09993737039

असगर अली इंजीनियर

समतावादी सुधारक की विरासत

इरफान इंजीनियर

मेरे जीवन में मानो एक तूफान आया और सब कुछ खत्म हो गया। मुझे जो क्षति हुई है, उससे मैं अब तक समझौता नहीं कर सका हूँ। तूफान की तरह, मौत भी ईश्वर के हाथों में होती है और तूफान की तरह, आप मौत के सामने भी असहाय होते हैं। मुझे जरा भी इल्म न था कि मेरे अजीज पिता डॉक्टर असगर अली इंजीनियर को मौत हमसे इतनी जल्दी छीन लेगी। मैं इतने बड़े धक्के के लिये कतई तैयार नहीं था। परन्तु अब मुझे यह सोचना है कि मेरे पिता ने मुझे विरासत में क्या दिया। मेरी बहन सीमा ने एक संवाददाता से बिलकुल ठीक कहा कि मेरे पिता चाहते थे कि उनकी विरासत हम दोनों में बराबर-बराबर बांट दी जाए - उनकी शिक्षाओं की विरासत। मन कुछ शांत होने के बाद मैं यह सोचने की कोशिश कर रहा हूँ कि मेरे पिता ने मुझे विरासत में क्या दिया है।



लेकर आए। फिर भी, अगर कोई दूर से आता था तो उसके मामले में वे तब-जब अपने कार्य विभाजन से समझौता भी कर लेते थे। रविवार और छुट्टी के दिनों में भी वे इस दिनचर्या का पालन करते थे। रविवार की शाम को कभी-कभी वे टहलने या कार से कुछ दूर घूमने चले जाया करते थे। वे अक्सर प्रवास पर रहते थे और इस कारण हम लोग-

यानी उनके परिवारजन- उनके साथ से वंचित रहते थे। जो संगठन, समूह या व्यक्ति उन्हें विभिन्न कार्यक्रमों के लिए आमंत्रित करते थे, उनके बीच वे कोई भेदभाव नहीं करते थे। एक बार वे किसी कार्यक्रम में पहुंचने की सहमति दे देते थे, उसके बाद वे अपने वायदे को निभाते थे। चाहे उसी तारीख में उन्हें कितनी ही महत्वपूर्ण संस्था से दूसरा निमंत्रण क्यों न प्राप्त हो जाए। तबियत खराब होने पर भी वे अपनी यात्राएं स्थगित नहीं करते थे। उन्होंने 'शांति और विवादों के निपटारे' पर कई कार्यशालाओं का संचालन उस स्थिति में भी किया जब वे बीमार थे। इस अनुशासन और कड़ी मेहनत के कारण ही वे दुनिया को इतना कुछ दे सके। परन्तु इस कारण ही उनका जीवन छोटा हो गया। हम अपने जीवन में कितना अनुशासन रख सकते हैं और कितने सुनियोजित ढंग से काम कर सकते हैं?

अनुशासित दिनचर्या

(1) उनका अनुशासन और कठिन दिनचर्या। वे अपनी निर्धारित दिनचर्या से कभी भी डिगते नहीं थे। इस दिनचर्या में शामिल थी सुबह की सैर, जिससे उनकी सेहत ठीक रह सके। वे सुबह आठ बजे से लेकर रात दस बजे तक काम करते थे। दोपहर में एक छोटी सी झपकी उनकी दिनचर्या का हिस्सा थी। गत 13 फरवरी को अस्पताल में दाखिल होने तक वे अपने दिन भर के काम को चार हिस्सों में बांटते थे- प्रशासनिक काम, पत्रों और ई-मेलों का उत्तर देना, पढ़ना और लिखना। इस मामले में वे काफी सख्त थे और कार्यालय के कर्मचारियों को उनके इस कार्यक्रम में फेरबदल करने की इजाजत नहीं थी। शहर के बाहर के आगंतुकों से वे इस निर्धारित दिनचर्या को तोड़कर भी मिल लेते थे परन्तु उनसे मिलने के इच्छुक मुंबईवासियों से यह अनुरोध किया जाता था कि वे समय

कर्मकांड व पारवड का विरोध

(2) उनके लिए न्याय, समानता, प्रेम, गरिमा और विविधता के मूल्यों के अतिरिक्त और कुछ भी पवित्र नहीं था- कोई कर्मकांड नहीं, कोई परंपरा नहीं और कोई संस्कृति नहीं। उनके लिए संस्कृति केवल वह माध्यम थी जिसके जरिये मनुष्य अपने आसपास की दुनिया को समझता है। और इसलिये उनका मत था कि सभी संस्कृतियां और सभी धर्म सम्मान के पात्र हैं। इन मूल्यों के अतिरिक्त, बाकी हर चीज में सुधार हो सकता था, उनकी पुनर्व्याख्या

की जा सकती थी, उन्हें एक नए दृष्टिकोण से समझा जा सकता था, तार्किकता की कसौटी पर कसा जा सकता था और उनमें ऐसे बदलाव लाए जा सकते थे, जिससे वे इन पवित्र मूल्यों को बढ़ावा देने में मदद कर सकें। सत्य की उनकी जीवनपर्यन्त खोज में कोई सीमाएं नहीं थीं और वे किसी भी पवित्र प्रतीक, कर्मकाण्ड, परम्परा, भाषा या संस्कृति से बंधे हुए नहीं थे। सत्य को तभी हासिल किया जा सकता है जब कोई व्यक्ति इस दिशा में अनवरत और निर्भीक प्रयास करे। उनके लिये सत्य तक पहुंचने के लिए कोई भी कीमत अधिक नहीं थी। इसके लिए जरूरी था अपने अन्तःकरण को ईमानदारी से खंगालना और अपनी अंतरात्मा की आवाज के अनुरूप काम करना। सत्य की अपनी इस खोज की उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ी। जब वे मुंबई महानगर पालिका में सिविल इंजीनियर बतौर काम कर रहे थे तब उनकी ईमानदारी और इंजीनियरों के संघ का नेतृत्व करने के कारण उन्हें बार-बार यहां से वहां स्थानांतरित किया जाता रहा। उन्हें पदोन्नतियां भी नहीं मिलीं। अन्ततः उन्होंने यह तय किया कि वे अपना पूरा समय अपने सिद्धान्तों और मूल्यों को बढ़ावा देने के काम में लगाएंगे। आमदनी में भारी कमी होने के बावजूद उन्होंने महानगर पालिका से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले ली। सैयदाना और उनके तन्त्र ने डॉक्टर इंजीनियर को बोहरा समाज से बहिष्कृत कर दिया। नतीजे में उनके अपनी मां, भाई, बहन और अन्य नातेदारों से रिश्ते खत्म हो गए। सन् 2000 के फरवरी माह में सैयदाना के जुनूनी अनुयायियों ने उनके कार्यालय और घर पर हमला किया और जमकर तोड़-फोड़ मचाई। उन पर सैयदाना के इशारे पर छः बार कातिलाना हमले हुए। उन्हें अक्सर धमकियों और बदसलूकी का शिकार बनना पड़ता था। परन्तु उन्होंने सत्य की खोज का अपना अभियान जारी रखा। कोई भी बलिदान इतना बड़ा नहीं था जो कि वे अपने सिद्धान्तों के खातिर नहीं दे सकते थे। हम सत्य की खोज कितनी ईमानदारी से कर सकते हैं और क्या हम इस काम में अनवरत जुटे रह सकते हैं?

(3) अगर कोई व्यक्ति सत्य के किसी आयाम तक पहुंचता है तो उसे अपनी इस खोज को सभी के साथ बांटना चाहिए, बिना इस बात की परवाह किए कि उसके क्या नतीजे होंगे। और इसके लिए ऐसी भाषा का इस्तेमाल किया जाना चाहिए जिसे सभी लोग आसानी से समझ सकें। वे अक्सर मुझसे कहा करते थे कि एक पैगम्बर

और दार्शनिक के बीच यही अन्तर होता है कि पैगम्बर अपनी बात ऐसी भाषा में कहता है जिसे लोग आसानी से समझ सकते हैं जबकि दार्शनिक की भाषा ऐसी होती है जिसे समझना केवल चन्द लोगों के बूते की बात होती है। दार्शनिक प्रसिद्धि हासिल करते हैं, पैगम्बर समाज को बदलते हैं और अपनी विरासत की गहरी छाप छोड़ जाते हैं। एक सामाजिक कार्यकर्ता व बुद्धिजीवी के तौर पर डॉक्टर इंजीनियर लिखने और बोलने- दोनों में आसानी से समझ आने वाली भाषा का इस्तेमाल करते थे। शुरू में उनकी भाषा बहुत अकादमिक हुआ करती थी परन्तु शनैः शनैः उन्हें यह अहसास हुआ कि अगर सामाजिक परिवर्तन के अपने लक्ष्य को हासिल करना है तो उन्हें साधारण शब्दों और भाषा का इस्तेमाल करना होगा। क्या हम निष्ठापूर्वक सामाजिक परिवर्तन लाने के अपने लक्ष्य के लिए काम करने को तैयार हैं?

प्रजातंत्र, संवाद, विविधता

(4) डॉक्टर इंजीनियर अक्सर कहा करते थे कि सच्ची स्वतन्त्रता के लिये उपयुक्त वातावरण आवश्यक है। इसके लिए जरूरी है प्रजातन्त्र और अभिव्यक्ति की आजादी। वे प्रजातन्त्र, संवाद और विविधता पर बहुत जोर देते थे। उनका कहना था कि इन तीनों के बगैर हम न तो एक दूसरे को समझ सकेंगे और ना ही उसकी सारी जटिलताओं के साथ, सत्य के विभिन्न पहलुओं को। अगर हम सत्य को पाना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि हम अपना दिमाग खुला रखें और दूसरों की बातों को धैर्यपूर्वक सुनें। दो व्यक्तियों या समूहों के बीच मतविभिन्नता को आपसी संवाद के जरिए, एक ऐसे सेतु में बदला जा सकता है जिस पर चलकर दोनों के ज्ञान में वृद्धि होगी और दोनों एक दूसरे को समझ सकेंगे। वे इस बात पर बहुत जोर देते थे कि जिनसे हमारी मतविभिन्नता है, उनसे संवाद करने में हमें कभी संकोच नहीं करना चाहिए।

विविधता भी उनके लिए बहुत महत्वपूर्ण थी क्योंकि विभिन्न संस्कृतियां, जीवन के बारे में अलग-अलग सोच को प्रतिबिंबित करती हैं। चूंकि हर संस्कृति मानवीय क्षमताओं और भावनाओं के केवल एक हिस्से को उद्घाटित कर पाती है इसलिए मानव को पूरी तरह से समझने के लिए हर संस्कृति को दूसरी संस्कृतियों की मदद की आवश्यकता होती है। दूसरी संस्कृतियों को समझने से हमारे बौद्धिक और नैतिक क्षितिज का विस्तार होता है और हम आत्ममुग्ध होने से बचे रहते हैं।

हम इस मिथ्या अभिमान से ग्रस्त नहीं हो पाते कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम हमारी संस्कृति के अन्दर एक अच्छा जीवन नहीं बिता सकते। परन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि अन्य चीजों के समान रहने पर, जीवन जीने का हमारा तरीका अधिक समृद्ध होगा यदि हमें जीवन जीने के दूसरे तरीकों की भी समझ और जानकारी होगी। वैसे भी, आज की आधुनिक और आपसी निर्भरता वाली दुनिया में किसी भी व्यक्ति के लिए शायद ही यह संभव हो कि वह केवल अपनी संस्कृति की चहारदीवारी में बन्द रह सके। कोई भी संस्कृति बिल्कुल बेकार नहीं होती। हर संस्कृति हमारे सम्मान की हकदार सिर्फ इसलिए बन जाती है क्योंकि वह उसके मानने वालों के लिए महत्वपूर्ण है और उसमें रचनात्मक ऊर्जा है। वे यह भी मानते थे कि कोई संस्कृति अपने आप में सम्पूर्ण नहीं होती और ना ही किसी एक संस्कृति को दूसरी संस्कृतियों पर लादा जाना चाहिए। संस्कृतियों में परिवर्तन उनके अन्दर से आना चाहिए।

विनम्रता

(5) जिस व्यक्ति ने सत्य को पा लिया है उसके लिये अतिआवश्यक है कि वह विनम्र हो। डॉक्टर इंजीनियर अत्यन्त विनम्र व्यक्ति थे। जिन दिनों वे कार्यालय से घर तक पैदल आया करते थे, अक्सर उन्हें सड़क पर कोई भी अजनबी रोक लेता था। वह कोई साधारण व्यक्ति ही होता था। वह डॉक्टर इंजीनियर से किसी भी विषय पर चर्चा शुरू कर देता या अपने संदेहों का निवारण करता या कभी कभी उनसे बहस भी करता। वे उस अजनबी से घंटों तर्क-वितर्क करते रहते थे। मेरे पैर दुखने लगते थे परन्तु वे तब तक चर्चा जारी रखते थे जब तक या तो वह व्यक्ति पूरी तरह संतुष्ट न हो जाए या मैदान छोड़ने का निर्णय न कर ले। जब मैं बाद में उनसे पूछता था कि उन्होंने अपना समय एक अजनबी पर क्यों बर्बाद किया तब उनका उत्तर रहता था कि दुनिया में हर व्यक्ति महत्वपूर्ण होता है। डॉक्टर इंजीनियर अत्यन्त सुलभ थे और कोई भी व्यक्ति, दिन हो या रात, अपने प्रश्नों या संदेहों के निवारण के लिए उनसे सम्पर्क कर सकता था। वे ऐसे ई-मेल संदेशों का भी जवाब देते थे जिनमें उन्हें गालियां दी जाती थीं। वे अपने हर विरोधी से अत्यंत धैर्यपूर्वक तर्क करने में सक्षम थे। उनकी विनम्रता के कारण कई कट्टर व्यक्ति भी उनसे बहुत प्रभावित थे। कट्टर विचारों वाले व्यक्तियों से तर्क करने और उन्हें समझाने की उनमें अद्भुत क्षमता और असीम धैर्य था। उनकी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जिसके विचारों में परिवर्तन नहीं

किया जा सकता हो। वे यह मानते थे कि हर व्यक्ति को सत्य से परिचित करवाकर उसे न्याय और शांति के लिए काम करने के लिये प्रेरित किया जा सकता है। विनम्रता उनका नैसर्गिक गुण था और वह सत्य के सिक्के का दूसरा पहलू भी था। परन्तु इसके साथ साथ, वह उनके कट्टर विरोधियों का दिल जीतने का हथियार भी थी। उन्होंने कई मौकों पर अत्यन्त चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों में अपनी शांति कार्यशालाओं का संचालन किया था। कभी-कभी तो हालात इतने खराब होते थे और सुविधाएं इतनी कम कि कोई सभ्य व्यक्ति शायद ही वहां ठहरता। परन्तु वे न केवल वहां रहते थे बल्कि उत्साहपूर्वक काम भी करते थे। उनके लिए व्यक्ति महत्वपूर्ण थे न कि सुख-सुविधाएं और आराम। वे आसानी से लोगों पर विश्वास कर लेते थे, विशेषकर जरूरतमंदों पर। उनके मन में जरूरतमंदों, अन्याय के शिकार व्यक्तियों और कष्ट भोग रहे लोगों के प्रति सहानुभूति और करुणा का गहरा भाव रहता था।

न्याय के साथ शांति

(6) न्याय के साथ शांति एक अन्य मूल्य था, जिसके प्रति डॉक्टर इंजीनियर की पूर्ण प्रतिबद्धता थी। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि न्याय के बिना शांति की स्थापना नहीं हो सकती। न्याय से उनका अर्थ मात्र यह नहीं था कि किसी व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले को सजा मिले और पीड़ित व्यक्ति को हुए नुकसान की प्रतिपूर्ति की जाए। उनके लिए न्याय का अर्थ यह भी था कि समाज में उपलब्ध संसाधनों का न्यायपूर्ण वितरण हो और वर्गीय असमानताएं न रहें। शांति स्थापना के लिए अपने काम के दौरान उन्होंने सांप्रदायिक विवादों और हिंसा का गहराई से अध्ययन किया और वे इस नतीजे पर पहुंचे कि सांप्रदायिक हिंसा की जड़ में सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक असमानताएं हैं। उन्होंने सांप्रदायिक हिंसा और विवादों पर बहुत कुछ लिखा। उनका हमेशा यह कहना रहता था कि यद्यपि सांप्रदायिक हिंसा को भड़काने के लिए धर्म का इस्तेमाल एक हथियार बतौर किया जाता है परन्तु धर्म, सांप्रदायिक हिंसा का मूल कारण नहीं है। सांप्रदायिक संघर्ष का असली कारण है दोनों समुदायों के श्रेष्ठी वर्ग का राज्य सहित, सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं पर अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास। धर्म का इस्तेमाल तो केवल भोले-भाले लोगों को भड़काने के लिए किया जाता है। उनकी यह मान्यता थी कि अल्पसंख्यकों के विरुद्ध फैलाए गए पूर्वाग्रहों के बगैर

साम्प्रदायिक हिंसा नहीं हो सकती। अल्पसंख्यकों के खिलाफ पूर्वाग्रह वह नींव है जिस पर साम्प्रदायिक दंगों की इमारत खड़ी की जाती है। डॉक्टर इंजीनियर ने अत्यन्त परिश्रम से ऐसे तथ्य व आंकड़े इकट्ठे किए जिनकी सहायता से अल्पसंख्यकों के संबंध में फैले या फैलाए गए पूर्वाग्रहों को दूर किया जा सके। कई लोगों ने मुझसे मिलकर या पत्राचार के जरिये मुझे यह बताया है कि किस तरह डॉक्टर इंजीनियर की कार्यशालाओं में भाग लेने के बाद, अल्पसंख्यकों के प्रति उनका रवैया बदल गया। हरियाणा के एक पुलिस अधिकारी मुझसे तब मिले जब डॉक्टर इंजीनियर आई.सी.यू. में थे और उन्होंने मुझे बताया कि डॉक्टर इंजीनियर की कार्यशाला में भाग लेने के बाद मुसलमानों के बारे में उनकी सोच पूरी तरह बदल गई। इससे भी महत्वपूर्ण यह कि उन्होंने इस तरह के मूखर्तापूर्ण दुष्प्रचार पर विश्वास करना बन्द कर दिया कि औरंगजेब तभी खाना खाता था जब उसके सामने जनेऊ पहने हुए बीस ब्राह्मणों की लाशें रख दी जाती थीं।

मुस्लिमों - पंडितों से धर्म की मुक्ति

(7) अपने अनुसंधान और अध्ययन के आधार पर डॉक्टर इंजीनियर इस निष्कर्ष पर भी पहुंचे कि धर्म को मुस्लिम-पंडितों के पंजों से मुक्त कर आम लोगों के हाथों में सौंपने से धर्म को नया जीवन मिलेगा। इससे आम लोग अपने-अपने धर्म के उन पक्षों के बारे में भी जान सकेंगे जिन्हें मौलवियों और पंडितों ने उनसे अब तक छुपा रखा था। तब धर्म एक ऐसी सच्ची नैतिक शक्ति बन सकेगा जिसका इस्तेमाल दमित वर्ग अन्याय से लड़ने और दमन के यथास्थितिवादी तन्त्र को बदलने के लिए कर सकेंगे। उनके लिए ऐसा धर्म अर्थहीन था जो अपने अनुयायियों को यथास्थिति को चुनौती देने की प्रेरणा नहीं देता, जो उन्हें धार्मिक शिक्षाओं की पुनर्व्याख्या करने की इजाजत नहीं देता, जो उन्हें विद्रोह करने से रोकता है। उन्होंने वामपंथी विचारकों की इस मान्यता को भी चुनौती दी कि धर्म आम लोगों की अफीम है। उन्होंने मार्क्स को उद्धृत करते हुए लिखा कि मार्क्स के लिए भी धर्म केवल अफीम नहीं थी, उनके लिए वह दलितों की आह भी थी।

महिलाओं के पैरोकार

(8) डॉक्टर इंजीनियर लैंगिक न्याय और समानता के- विशेषकर मुस्लिम महिलाओं के मामले में- जबरदस्त

पैरोकार थे। उन्होंने कुरान, इस्लाम के इतिहास और इस्लामिक विधिशास्त्र के अपने गहन अध्ययन का इस्तेमाल, मुस्लिम महिलाओं की भलाई करने के लिए किया। उनके अनुसार कुरान की सूराइननिस्सा में केवल महिलाओं के अधिकारों की बात की गई है, पुरुषों के अधिकारों की नहीं। जहां भी पुरुषों की बात की गई है वह उनके कर्तव्य के संदर्भ में है। कुरान की यह व्याख्या करने के पीछे उनका उद्देश्य उस सामाजिक असंतुलन को ठीक करना था जिसमें महिलाओं के हिस्से केवल कर्तव्य आए हैं, अधिकार नहीं। उनका तर्क यह था कि मध्यकाल में जब मुस्लिम शासक नए-नए इलाकों पर कब्जा कर अपना साम्राज्य फैला रहे थे, उस दौर में पितृसत्तात्मक संस्कृति ने महिलाओं से वे अधिकार छीन लिए जो कुरान ने उन्हें दिए थे। कुरान का उनका अध्ययन इतना गहन था कि मुस्लिम उलेमा शायद ही कभी तर्क में उन पर भारी पड़ पाते थे और इसलिए वे पितृसत्तात्मक सांस्कृतिक मूल्यों को नैतिक आधार पर उचित बताते थे। उन्होंने मुझे यह सख्त निर्देश दिया था कि उनकी मृत्यु के बाद मेरी बहन और उनकी पुत्री को उनकी सम्पत्ति में से बराबर हिस्सा दिया जाए। समानता का उनका संघर्ष केवल महिलाओं तक सीमित नहीं था। वे सभी वर्गों की समानता के हामी थे। उन्होंने मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का संघर्ष तब शुरू किया था जब हम सब मंडल आयोग के बारे में कुछ जानते तक नहीं थे।

(9) असगर अली इंजीनियर का मिशन था धर्म को धार्मिक संस्थागत ढांचे से मुक्ति दिलाकर उसे धार्मिक ग्रन्थों की वर्तमान व्याख्या पर प्रश्नचिन्ह लगाने के लिए इस्तेमाल करना। वे चाहते थे कि धर्म, सत्य तक पहुंचने की राह प्रशस्त करे, दमन पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को बदले, विविधता को स्वीकार करे और संवाद व लैंगिक समानता के जरिए एक ऐसे समाज का निर्माण करे, जिसमें विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों वाले लोग प्रेमपूर्वक मिल-जुल कर रह सकें। उन्होंने हमारे ज्ञान के कैनवास को बड़ा किया और समानता, न्याय, शांति और गरिमा के मूल्यों को प्रोत्साहित करने का रास्ता दिखाया। असगर अली इंजीनियर व्यक्ति नहीं संस्था थे। क्या हम उनके मिशन को उसी अनुशासन व समर्पण के भाव से आगे ले जाना चाहते हैं, जिस अनुशासन व समर्पण से उन्होंने अपना काम किया? हम ऐसा करने का पूरा प्रयास करेंगे। उनकी आत्मा को शांति मिले।

(मूल अंगरेजी से अमरीश हरदेनिया द्वारा अनुदित)

विश्वबंधु

बंधुविहीन कर चले गए

नवीन

अस्थि कैंसर से पीड़ित 51 वर्षीय विश्वबंधु का निधन 03 जून को मुंबई के के.ई.एम. अस्पताल में हो गया। करीब सात मास से वह रीढ़ की हड्डी के दर्द से बुरी तरह पीड़ित थे। एक मई को जांच में पता चला कि विश्वबंधु को असाध्य कैंसर ने जकड़ लिया है। छह मई से तीन जून तक वह कैंसर की सांघातिक पीड़ा झेलते हुए आखिरकार इस नश्वर दुनिया को छोड़ गए। इस दरम्यान टाटा के कैंसर अस्पताल में उन्हें अनेकानेक पीड़ादायक जांचों से भी गुजरना पड़ा।

विश्वबंधु समाजवादी जनपरिषद के वरिष्ठ कार्यकर्ता थे। समता संगठन के दिनों के वह साथी थे। समाजवादी जनपरिषद का दूसरा प्रांतीय सम्मेलन मुजफ्फरपुर में हुआ था। इस सम्मेलन को सफल बनाने में उन्होंने दिन-रात एक कर दिया था। मुजफ्फरपुर से जब वार्ता प्रकाशित होती थी तो उसके सफल प्रकाशन में उनका अप्रतिम योगदान था। इसके साथ-साथ वह पी.यू.सी.एल., गांधी शांति प्रतिष्ठान, भारत-तिब्बत मैत्री संघ, आजादी बचाओ आंदोलन व गांधी विचार अभियान के प्रत्येक कार्यक्रम में पूरे तन-मन से लगते थे। उनके आकस्मिक देहावसान



से मुजफ्फरपुर के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में एक तरह से ठहराव आ गया है।

विश्वबंधु सुलझे हुए राजनैतिक कार्यकर्ता के साथ-साथ प्रतिबद्ध ट्रेड यूनियन नेता भी थे। विगत तैंतीस वर्षों से वह लोक स्वास्थ्य अभियंत्रण विभाग के चतुर्थ वर्गीय दिहाड़ी मजदूर थे। शुरु के बीस साल तक तो वह विभाग के स्थायी मजदूर थे मगर बाद में

शायद 2002 से उन्हें तथा 2480 दूसरे कामगारों को दैनिक भोगी कर्मचारी के रूप में परिणत कर दिया गया। परंपरागत ट्रेड यूनियन जब इस मसले को सुलझाने में विफल रही तो विश्वबंधु ने एक स्वतंत्र ट्रेड यूनियन का निर्माण किया। संघर्ष के तूफानी दिनों में उन्होंने आमरण अनशन जैसे अमोघ अस्त्र का प्रयोग अत्यंत कुशलता से किया था। जुझारु आंदोलन के फलस्वरूप विश्वबंधु को छोड़कर शेष सभी 2480 कामगारों का स्थायीकरण हो गया।

संघर्षशील समाजवादी नेता स्व. विनय भूषण के वह ज्येष्ठ पुत्र थे। अपने पीछे पत्नी बेबी जी, पुत्र उत्तम आनंद और पुत्री सुप्रिया को छोड़ गए हैं। वार्ता अपने अभिन्न सहयोगी विश्वबंधु के आकस्मिक निधन पर हार्दिक शोक प्रकट करती है।

बासुदेव सिंह

अनोखे शिक्षक नेता

नतेन्दु प्रियदर्शी

“शिक्षक नेता बासुदेव सिंह का निधन 29 अप्रैल को हो गया” यह खबर जैसे ही फैली, लोगों की आंखें नम हो गईं। शोक सभाओं का सिलसिला शुरु हो गया।

बासुदेव बाबू पिछले कुछ महीनों से बीमार थे। उनका इलाज एम्स में चल रहा था। उन्होंने भारत छोड़ो आंदोलन में हिस्सा लिया था। 1946 में वे भाकपा में शामिल हुए।

भाकपा के विभाजन के बाद वे माकपा में शामिल हुए। 1958 से 1988 तक वे शिक्षक के रूप में विद्यालय से जुड़े रहे। वे बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ के बेगुसराय जिला इकाई के सचिव भी निर्वाचित हुए। दरभंगा शिक्षक निर्वाचन क्षेत्र से पहली बार 8 मई 1996 को विधान परिषद में सदस्य चुने गए और जीवन के अंत तक लगातार विधान परिषद के सदस्य बने रहे।

जब बेगुसराय जिला माध्यमिक शिक्षक संघ के सचिव चुने गए तो उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। उनका मानना था कि दोनों पदों पर एक साथ रह कर न्याय नहीं किया जा सकता। सचिव की पहली प्राथमिकता संघ होनी चाहिए। जब वे विधायक हुए तो कई बार अकेले साइकिल से क्षेत्र का दौरा किया करते थे। उम्र बढ़ने के कारण साइकिल छोड़ दी तो रिक्शे पर चलने लगे। आजीवन कोई गाड़ी नहीं खरीदी। पूछने पर कहते थे कि इतनी आमदनी नहीं है कि गाड़ी खरीद सकूं, खरीद भी लूं तो रख-रखाव का प्रबंध नहीं हो सकता। एक मुलाकात में अपने पड़ोसी तत्कालीन विधायक का नाम लिए बगैर कहा कि हमारे परिवार के कुछ सदस्य उनकी शाही शैली का अनुकरण करना चाहते हैं। वे लालबत्ती से प्रभावित हो जाते हैं। उनकी इतनी समझ नहीं है कि जिस चुनाव को लोग करोड़ों रुपए में भी नहीं जीत पाते उस चुनाव को मैं कुछ हजार रुपयों में जीतता हूं। अनौपचारिक बातचीत के क्रम में उन्होंने अपने पिछले चुनाव की चर्चा की। कहा कि पिछले चुनाव में एक लाख रुपए की व्यवस्था की जिसमें पचास हजार रुपए लेकर क्षेत्र गया। पुनः शेष पैसों को मंगवाया जिसमें कई हजार रुपए बच ही गए।

सादगी ऐसी कि वर्तमान दौर में महंगी-चमचमाती गाड़ी में चलते विधायकों को देखने के अभ्यस्त विधान परिषद के सुरक्षाकर्मी परिचय पत्र दिखाने पर यकीन नहीं कर पाते कि साधारण कुर्ता-धोती और चप्पल में कभी पैदल तो कभी रिक्शे पर बैठा यह व्यक्ति विधान परिषद का सदस्य हो सकता है। लगभग हर सत्र के शुरुआती दिनों में उनके रिक्शे को सुरक्षाकर्मियों द्वारा रोके जाने के कारण पक्ष-विपक्ष के विधायक हंगामा करते। संघ भवन में जब कोई उनसे मिलने जाता और अपना परिचय भूमिका के साथ देना शुरु करता तो वे कहते, पहले काम बताइए। समस्या सुनने के बाद पूछते, खाना खाया है क्या? नीचे जाइए कैटीन में खाना खा

लीजिए और मेरे नाम पर पैसे लिखवा दीजिएगा। वे केवल शिक्षकों की ही नहीं समाज के हर वर्ग की समस्याएं सुनते एवं निराकरण करने की कोशिश करते।

एक बार बिहार माध्यमिक शिक्षक संघ, पटना में आयोजित एक कार्यक्रम में हिन्दी आलोचक नामवर सिंह व्याख्यान दे रहे थे। प्रश्न पूछने के क्रम में मैंने उनसे बंगाल में उन दिनों चल रहे नंदीग्राम आंदोलन पर उनकी प्रतिक्रिया जाननी चाही। जबवा में उन्होंने बंगाल की माकपा सरकार की आलोचना की। मैं उनसे सहमत था। बासुदेव जी मेरे आगे दर्शक दीर्घा में बैठे थे। कार्यक्रम समाप्ति के बाद बासुदेव जी ने बंगाल की माकपा सरकार का पक्ष रखा तो मैंने उसका प्रतिवाद किया। मुझे थोड़ी देर बाद लगा कि कहीं वे बुरा न मान जाएं। लेकिन उन्होंने बुरा नहीं माना।

अपनी मृत्यु के दो वर्ष पूर्व उनका मेरे साथ पटना में एक जगह जाना तय हुआ था। उस दिन दोपहर में जैसे ही मैं समस्तीपुर से पटना पहुंचा, उनको इसकी सूचना दी। वे बोले, मेरे साथ आपको जाना है यह मुझे याद है। अभी मैं विधान परिषद जा रहा हूं। मैंने सोचा कि क्यों नहीं शिक्षक संघ में ही उनकी प्रतीक्षा करूं। वे विधान पार्षद होने के बाद भी अपने मंत्री स्तर के बंगले को छोड़कर बिहार शिक्षक संघ के एक कमरे में सोते थे, जिस में आधे में फाईलें एवं किताबें रखी होती थीं। संघ भवन पहुंचने पर देखा कि वे आराम कर रहे हैं। मैंने तपाक से प्रश्न के लहजे में पूछा, आपने कहा था कि मैं विधान परिषद जा रहा हूं। उन्होंने सफाई दी कि विधान परिषद जा रहा था, लेकिन थोड़ी दूर पैदल जाने पर चक्कर-सा लगने लगा तो लौट आया। पुनः हिम्मत करके दूसरे रास्ते से जाने लगा फिर चक्कर आने लगे। अब थोड़ी देर विश्राम के बाद रिक्शे से जाऊंगा। मैंने कहा कि आप अपने स्वास्थ्य की भी कुछ चिंता करिए। तो बोले अगर इन छोटी-मोटी बातों की चिंता करने लगा तो फिर नहीं चल सकूंगा। जीवन के अंतिम दिनों तक यह सिलसिला चलता रहा। वे आजीवन सक्रिय रहे।

80 वर्ष से ज्यादा उम्र में भी उनकी गिनती विधान परिषद में सबसे ज्यादा प्रश्न पूछने और जनहित के मुद्दे उठाने वाले दो चार पार्षदों में होती थी। ऐसे दौर में जब राजनीति में चरित्र का संकट पैदा हो रहा है, बासुदेव बाबू सदैव प्रेरणास्रोत बने रहेंगे।

मिलकर नई दुनिया बनाएं

(समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय सम्मेलन, 11-12 जून 2013, वाराणसी में पारित प्रस्ताव)

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) सरकार ने पिछले दिनों अपने नौ साल पूरे होने का जश्न मनाया। यह बात सामने आई कि 1977 के बाद यह सबसे ज्यादा चलने वाली सरकार है। यह इंदिरा गांधी के कार्यकाल (1966-1977) से आपातकाल के दो बरस निकाल दें तो जल्दी ही मनमोहन सिंह जवाहरलाल नेहरू के बाद सबसे लंबे समय तक रहने वाले भारत के प्रधानमंत्री बन जाएंगे। यह एक विडंबना है कि अभी तक देश की सबसे भ्रष्ट और सबसे ज्यादा जन-विरोधी सरकार अपने दो कार्यकाल पूरा करने चली है और उसको कोई गंभीर राजनैतिक चुनौती नहीं मिल पाई है। विडंबना यह भी है कि नेहरू के बाद देश में लोकतांत्रिक रूप से लंबा राज करने वाला प्रधानमंत्री एक ऐसा व्यक्ति है जिसका कोई स्वतंत्र विचार-व्यक्तित्व नहीं है, जो एक भी सीधा चुनाव नहीं जीत सका है और जो किसी आमसभा में एक प्रभावी भाषण भी नहीं दे सकता। वह पूरी तरह से विश्व बैंक-मुद्राकोष-अमरीका के कहने पर उनकी नीतियों को देश पर थोप रहा है।

भारतीय राजनीति का पतन

यह गंभीर शोचनीय और दयनीय हालत भारतीय राजनीति के घोर पतन के कारण पैदा हुई है। भारत के सारे प्रमुख राजनैतिक दल एक से हो चले हैं। उनकी नीतियों, कार्यशैली, राजनैतिक संस्कृति, उनके चरित्र और आचरण में कोई खास फरक नहीं रह गया है। वे सब पूंजीवादी वैश्वीकरण की नीतियों को आगे बढ़ा रहे हैं। देश में एक जबरदस्त राजनैतिक विकल्पहीनता व्याप्त है। भारतीय जनता पार्टी ही नहीं, नीतीश कुमार, मायावती, नवीन पटनायक, जयललिता, अखिलेश यादव, उमर अब्दुल्ला जैसे क्षेत्रपों और नई उमर के नेताओं ने भी देश को निराश किया है। प्रधानमंत्री के रूप में जिन नए नामों को प्रोजेक्ट किया जा रहा है- राहुल गांधी और नरेन्द्र मोदी, उनके पास भी कोई नई दृष्टि या नई सोच नहीं है।

प्रधानमंत्री बनने पर दोनों ही देशी-विदेशी कंपनियों के और अमरीकी साम्राज्यवाद के हितों को आगे बढ़ाएंगे, देश की जनता के हितों को नहीं। उनका विकास मॉडल भी मोटे तौर पर एक ही है जो देश की मौजूदा दुर्दशा के लिए जिम्मेदार है। यह भी जाहिर हो रहा है कि केवल युवा या नया खून राजनीति में आने से देश की सूरत नहीं बदलेगी। जरूरत नई व क्रांतिकारी सोच, जनता से निकले व जनता के साथ खड़े होने वाले नेतृत्व और बुनियादी बदलाव के पक्ष में एक बड़े जनांदोलन की है।

जरूरत एक नई राजनैतिक संस्कृति और कार्यशैली की भी है। मौजूदा पार्टियों की राजनीति शिखर राजनीति है, आम जनता से कटी हुई है और वंशवाद, पविारवाद, अवसरवाद, दल-बदल, सिद्धांतहीनता व मूल्यहीनता से बुरी तरह ग्रस्त है। चुनाव जीतने के लिए वे धनबल (ज्यादातर दो नंबरी), बाहुबल, जातिवाद, सांप्रदायिकता का सहारा लेती हैं। इसी कारण राजनीति में पूंजीपतियों का वर्चस्व बढ़ रहा है। अपराधी तत्वों का प्रवेश और उनसे सांठगांठ बढ़ रही है। यह एक दुष्चक्र बन जाता है। करोड़ों रुपए खर्च करके जो चुनाव लड़ते हैं, वे फिर उससे कई गुना कमाते हैं या उनका एहसान चुकाने में लगते हैं जिन्होंने उनके चुनाव में धन लगाया। इस दुष्चक्र को तोड़े बगैर राजनीति से कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। इसे आम जनता की गोलबंदी और संगठित ताकत तथा बड़े बदलाव के आंदोलन से तोड़ा जा सकता है।

भारतीय राजनीति की चरम गिरावट की एक मिसाल पिछले दिनों देखने को मिली। परशुराम जयंती के मौके पर उत्तरप्रदेश में बसपा, सपा, कांग्रेस, भाजपा सबने बड़े-बड़े ब्राह्मण सम्मेलन किए। ब्राह्मणों की खुशामद करने के लिए उनमें होड़ मची थी। कांशीराम के नेतृत्व में बहुजन समाज पार्टी की शुरुआत मनुवाद और ब्राह्मणवाद के खिलाफ बहुजन समाज को संगठित करने के लक्ष्य के साथ हुई थी। समाजवादी नेता डॉ. राममनोहर लोहिया इस देश में जातिप्रथा पर हमला करने वाले प्रमुख नेता थे।

उनका नाम लेने वाले लोग आज वोटों की क्षुद्र राजनीति के लिए कहां पहुंच गए, इसका यह एक उदाहरण है।

नई पार्टियां कैसे उभर कर आ रही हैं, इसकी एक मिसाल कर्नाटक के चुनाव में देखने को मिली है। दक्षिण भारत में कुछ साल पहले भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व अफसर ने लोकसत्ता पार्टी बनाई है। इसके एक उम्मीदवार ने अपने फेसबुक पर दलितों के आरक्षण के खिलाफ लिखा। वह महिलाओं पर अत्याचार रोकने वाले कानून के भी खिलाफ है। दूसरी उम्मीदवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रति अपनी भक्ति इंटरनेट पर साझा की और तीसरी ने नरेन्द्र मोदी की तारीफ अपने फेसबुक पर की। ये बातें उजागर होने पर लोकसत्ता पार्टी प्रमुख डा. जयप्रकाश नारायण को पहले उम्मीदवार को हटाना पड़ा और बाकी को अपने फेसबुक से इन चीजों को हटाने को कहना पड़ा। बात साफ है। 'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा' मिलाकर भानुमति का कुनबा जोड़ने से देश में बदलाव की नई राजनीति नहीं हो सकती। एक सुसंगत प्रगतिशील विचारधारा और उसकी स्पष्टता जरूरी है। कोई भी क्रांति बिना विचार के नहीं हो सकती।

भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन और उससे निकली पार्टी पर भी यह बात लागू होती है। भ्रष्टाचार की समस्या बहुत गंभीर हो गई है। लेकिन भ्रष्टाचार भारतीय राष्ट्र की बुनियादी व्याधि और विकृतियों का एक ऊपरी लक्षण या परिणाम है। ऊपरी लक्षणों का इलाज करने से बीमारी जड़ से नहीं मिटेगी। आश्चर्य की बात है कि इस आंदोलन के नेताओं ने आज तक देश में भ्रष्टाचार की समस्या की जड़ों और उसके बुनियादी कारणों पर कोई चर्चा-बहस चलाने की जरूरत नहीं समझी। इस पर एक बड़ा सेमीनार तक उन्होंने आयोजित नहीं किया। देश में व्याप्त गहरी गैर-बराबरियों, जाति व्यवस्था, स्त्री-पुरुष गैरबराबरी, वैश्वीकरण की नीतियों और आधुनिक विकास मॉडलों पर कोई सुस्पष्ट राय बनाने और फैलाने का उनका कोई एजेंडा भी नहीं दिखाई देता।

मध्यम वर्ग का उभार

मध्यम वर्ग के उदय की इन दिनों बड़ी चर्चा है। कहा जा रहा है कि आने वाले समय में भारतीय राजनीति और भारत राष्ट्र में यह निर्णायक भूमिका निभाएगा। दिल्ली में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन तथा सामूहिक बलात्कार के बाद हुए आंदोलन में इस मध्यमवर्ग की सक्रियता उभर

कर आई। समाजवादी जन परिषद इसका स्वागत करती है। इससे जाहिर होता है कि वैश्वीकरण की प्रारंभिक चकाचौंध से अब मोह भंग हो रहा है। संकट इतना घना होता जा रहा है कि मध्यम वर्ग भी उससे अछूता नहीं रहा और सड़क पर आ रहा है।

पहले से भी सजप का मानना है कि किसी भी बड़े क्रांतिकारी बदलाव में मध्यम वर्ग की एक भूमिका रहेगी और इस वर्ग से अनेक प्रतिबद्ध कार्यकर्ता और सहयोगी मिल सकेंगे। लेकिन इस बारे में कुछ बातें ध्यान में रखने की जरूरत हैं-

(एक) जिसे आम तौर पर मध्यम वर्ग कहा जाता है वह देश की आबादी के मध्य में नहीं है। देश की 70 फीसदी आबादी इसके नीचे स्थित हैं। यानी सांख्यिकीय दृष्टि से देखें तो यह मध्यम वर्ग दरअसल उच्च वर्ग का हिस्सा है।

(दो) यह मध्यम वर्ग इंटरनेट, फेसबुक आदि से काफी जुड़ा है। लेकिन देश की 90 फीसदी आबादी अभी भी इंटरनेट के 'जाल' से बाहर है। इंटरनेट पर चर्चा-विमर्श के अपने पूर्वाग्रह और अपनी सीमाएं भी हैं। यह 95 फीसदी से ज्यादा अंग्रेजी में होता है। इसमें उच्चवर्गीय - उच्चवर्णीय पूर्वाग्रह काफी होते हैं। इसके बावजूद संचार की इस नई तकनालाजी का अपना महत्व है, खास तौर पर युवा पीढ़ी के बीच। इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इसका उपयोग किया जाना चाहिए।

(तीन) मध्यम वर्ग का यह उभार अभी बहुत हद तक देश के महानगरों में ही दिखाई दे रहा है। भारत में महानगरों की आबादी तेजी से बढ़ी है, फिर भी यह देश की आबादी के 10 फीसदी से ज्यादा नहीं है। महानगरों, मध्यम नगरों, छोटे शहरों, कस्बों, गांवों और आदिवासी इलाकों के मुद्दों व परिस्थितियों में काफी फरक है। इसीलिए मध्यम वर्ग की यह बढ़ती चेतना देश के किसानों, मजदूरों, दलितों, आदिवासियों आदि के मुद्दों व चिंताओं और बुनियादी बदलाव चाहने वाली एक प्रगतिशील विचारधारा से जुड़ेगी तो ही इसकी परिवर्तनकारी भूमिका हो सकेगी। आज इसकी काफी गुंजाईश है, लेकिन इसके लिए सचेत कोशिश करनी होगी। यह भी साफ है कि बदलाव की मुख्य ताकत तो नीचे स्थित वंचितों, दलितों, गरीबों के संगठन व आंदोलनों से ही आएगी। नहीं तो बदलाव अधूरा और ऊपरी रह जाएगा।

वैश्वीकरण का मानवीय चेहरा संभव नहीं

पिछले दिनों संप्रग सरकार ने 'भारत-निर्माण' के नाम से विज्ञापनों और प्रचार की श्रृंखला शुरू की है। इसे देखकर 'इंडिया शाइनिंग' की याद आ जाती है। अटल बिहारी वाजपेयी की पिछली सरकार ने अपने कार्यकाल के अंत में चुनाव के पहले इसी तरह के विज्ञापनों की झड़ी लगाई थी। ऐसा लगता है कि इस सरकार का हथ्र भी वही होने वाला है। केन्द्र सरकार मनरेगा, आंगनबाड़ी, जननी-सुरक्षा योजना, कस्तूरबा कन्या विद्यालय जैसी योजनाओं और कतिपय कानूनों (शिक्षा अधिकार कानून, वन अधिकार कानून, सूचना अधिकार कानून, घरेलू हिंसा कानून प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा कानून आदि) को अपनी उपलब्धियों के रूप में प्रचारित करना चाहती है। इन योजनाओं-कानूनों की कुछ मामूली उपलब्धियां हो सकती हैं। लेकिन खुद इनके सूत्रधारों और समर्थकों का मोह भंग हो रहा है, जैसा कि हाल ही में 'राष्ट्र सलाहकार

समिति' से अरुणा राय के इस्तीफे से पता चलता है। दरअसल सरकार की मुख्य नीतियां जबरदस्त रूप से जन-विरोधी हैं। गलत विकास मॉडलों के साथ पूंजीवादी वैश्वीकरण की नीतियों के मेल से गैर-बराबरी, कंगाली, कुपोषण, बेरोजगारी, महंगाई, विस्थापन, पर्यावरण विनाश आदि में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई है और कई तरह से आम लोगों की जिंदगियों में मुसीबतें बढ़ी हैं। घोटालों व भ्रष्टाचार में भी भारी वृद्धि हुई है। इन नीतियों के दो दशक के अनुभव से यह साफ हो चला है। इसके बावजूद इससे कोई सबक न लेते हुए मौजूदा सरकारें इसी आत्मघाती राह पर अंधाधुंध बढ़ती जा रही हैं। इसी में कुछ राहत देने के लिए, असली इरादों को ढंकने के लिए और वैश्वीकरण को एक 'मानवीय चेहरा' प्रदान करने के लिए इन कानूनों व योजनाओं को लाया गया था। लेकिन हमला इतना बड़ा है कि इनसे कोई 'मरहम' नहीं लग सकता। यह साफ हो चला है कि ऐसा कोई मानवीय चेहरा नहीं हो सकता। इन नीतियों और व्यवस्था में आमूल बदलाव के बगैर कोई राहत भी ज्यादा दिन नहीं चल पाती है।

पूंजीवादी वैश्वीकरण और विकास के चलते ही आज जगह-जगह लोग अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने को मजबूर हुए हैं। खेती का संकट लगातार बना हुआ है और बड़ी संख्या में किसान खुदकुशी कर रहे हैं। नियमगिरी, पोस्को, लोअर सुक्तेल, कुदनकुलम, चुटका, नर्मदा, मानेसर हर जगह लोग लड़ रहे हैं और सरकारें कंपनियों के साथ खड़ी हैं। इन कंपनियों को मजदूरों का शोषण और दमन करने में सरकारें सहयोग कर रही हैं, जैसा कि मारुति और अन्य कारखानों में देखने को मिल रहा है। कथित श्रम सुधारों, आउटसोर्सिंग और ठेकेदारी का कमाल है कि मजदूरी बढ़ने के बजाय कम हो रही है। संगठित क्षेत्र में मजदूरों की हालत कुछ बेहतर होती है, लेकिन असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की हालत खराब है। मनरेगा में तो स्वयं सरकार घोषित रूप से न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी दे रही है। पूंजीवाद का एक विकृत चेहरा सामने आता जा रहा है। विडंबना यह है कि भारतीय

लोकतांत्रिक क्रांतियां महत्वपूर्ण हैं, आगे ले जाने वाले कदम हैं, लेकिन अपने आप में नाकाफी है। इन लोकतांत्रिक क्रांतियों के साथ या उनके अगले कदम के रूप में सामाजिक-आर्थिक ढांचे को और विकास के मॉडल को बदलने का काम भी होना चाहिए।

शासक वर्ग (जिसमें सभी प्रमुख पार्टियों के नेता, अफसर और बुद्धिजीवी शामिल हैं) एक ऐसे वक्त में इस पूंजीवादी वैश्वीकरण के पीछे भाग रहा है, जब खुद इसके शीर्ष पर स्थित देश जबरदस्त संकट से गुजर रहे हैं। यह संकट संयुक्त

राज्य अमरीका से शुरू हुआ और अब यूरोप इस संकट में बुरी तरह फंसा है। वहां लाखों के प्रदर्शन हो रहे हैं तथा वालस्ट्रीट पर कब्जा करो जैसे अनूठे आंदोलन हो रहे हैं। जिस लातीनी अमरीका को कभी संयुक्त राज्य अमरीका का पिछवाड़ा माना जाता था, वहां वैश्वीकरण और अमरीकी वर्चस्व के खिलाफ हवा बह रही है। वहां नई सरकारें चुनकर आई हैं जो समाजवाद की दिशा में नए-नए प्रयोग कर रही हैं। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि ये परिवर्तन बंदूक के रास्ते से नहीं, वोट के जरिए हो रहे हैं। कई पूर्व गुरिल्ला क्रांतिकारी अब चुनकर सरकार में आए हैं और जनहित में बदलाव कर रहे हैं। लातीनी अमरीका के इन प्रयोगों में कमियां हो सकती हैं तथा परिस्थितियों के कुछ फरक के कारण उन्हें सब जगह ज्यों-का-त्यों दुहराना संभव भी नहीं हो सकता है। लेकिन खास बात यह है कि उन्होंने नई उम्मीद जगाई है और उनसे पूंजीवाद के विकल्प

की मुहिम को नई ताकत मिली है।

लोकतांत्रिक क्रांतियों का अधूरापन

मिस्र, ट्यूनीशिया जैसे अरब देशों में तानाशाहों के खिलाफ जोरदार जन क्रांतियां भी पिछले दिनों हुईं। इनसे जाहिर हुआ है कि साधारण जनता को ज्यादा दिनों तक दबा कर नहीं रखा जा सकता। लेकिन अब मिस्र के अंदर नई निर्वाचित सरकार का टकराव लोगों से हो रहा है। तुर्की में भी इस तरह के टकराव की खबरें आई हैं। सबसे अफसोसजनक हालत दक्षिण अफ्रीका की है जहां पर खदान मजदूरों के खूनी संहार की घटना कुछ समय पहले हुई। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ लंबे संघर्ष के बाद नब्बे के दशक के शुरू में आजादी मिली। लेकिन वहां पर ज्यादा कुछ नहीं बदला। गैर-बराबरी, गरीबी और शोषण करीब-करीब ज्यों के त्यों हैं। यही हाल बांग्लादेश का है, जहां निर्यात के लिए रेडीमेड वस्त्र तैयार करने वाले उद्योगों में एक के बाद एक भीषण हादसे हो रहे हैं। इन उद्योगों में काम की दशाएं बहुत खराब हैं और मजदूरों का बेइंतहा शोषण करके यूरोप-अमरीका को सस्ते कपड़े मुहैया कराए जाते हैं। बांग्लादेश में शाहबाग आंदोलन के रूप में कट्टरपंथी तत्वों के खिलाफ युवाओं का एक जोरदार आंदोलन उभर कर आया है जो 1971 के मुक्ति संग्राम के अपराधियों को सजा देने की मांग कर रहा है। लेकिन दूसरी तरफ जमायते इस्लामी के पक्ष में भी देश की गरीब जनता का अच्छा समर्थन दिखाई दे रहा है। सत्तासीन अवामी लीग की हालत कुछ-कुछ भारत की कांग्रेस जैसी है जो धर्मनिरपेक्ष तो दिखाई देती है लेकिन भ्रष्टाचार से घिरी है और उसकी आर्थिक नीतियां आम जनता के कष्ट बढ़ाने वाली हैं।

दक्षिण एशिया के ज्यादातर हिस्सों (भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, अफगानिस्तान, नेपाल, म्यांमार) में यही हाल है। दुनिया के ज्यादातर गरीब देशों में यह दुविधा और भ्रम बार-बार दिखाई देता है। जनता आजादी के लिए लड़ती है, अत्याचारी शासकों के खिलाफ विद्रोह करती है, जन-विरोधी सरकारों को बदलती भी है, लेकिन उसके कष्टों का अंत नहीं हो पाता। इसलिए कई बार प्रतिक्रियावाद और कट्टरपंथ के साथ हो जाती है।

दरअसल लोकतांत्रिक क्रांतियां महत्वपूर्ण हैं, आगे ले जाने वाले कदम हैं, लेकिन अपने आप में नाकाफी हैं। इन लोकतांत्रिक क्रांतियों के साथ या उनके अगले कदम

के रूप में सामाजिक-आर्थिक ढांचे को और विकास के मॉडल को बदलने का काम भी होना चाहिए। तभी जनता की मुक्ति हो सकेगी और लोकतंत्र भी टिकाऊ तथा सार्थक हो सकेगा। इन क्रांतियों को उस वैश्वीकरण और साम्राज्यवाद से टकराना होगा जो पूरी दुनिया की जनता और दुनिया के संसाधनों को मुनाफे की अनियंत्रित भूख के चलते लूट रहा है और बरबाद कर रहा है। दक्षिण अफ्रीका, बांग्लादेश या भारत की सरकारें वैश्वीकरण और आधुनिक विकास मॉडल का विरोध करने या उसका विकल्प खोजने के बजाय उनकी दलाल बनती जाती हैं।

सामाजिक धार्मिक आंदोलन

दुनिया के स्तर पर कट्टरपंथ के बढ़ते प्रभाव को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। पश्चिमी सभ्यता, पूंजीवादी वैश्वीकरण और साम्राज्यवाद से जब लोगों के कष्ट बढ़ते हैं, समाज टूटता है और सांस्कृतिक हमला होता है तथा प्रगतिशील विचार व आंदोलन कोई प्रभावी विकल्प नहीं दिखा पाता है, तब लोग धर्म और परंपरा की शरण में जाने लगते हैं। कट्टरपंथी तत्व इसका फायदा उठाते हैं। कट्टरपंथ को बढ़ावा देने के पीछे निहित स्वार्थ भी होते हैं। (कई बार स्वयं अमरीका होता है), लेकिन कहीं न कहीं यह प्रगतिशील धाराओं की असफलता भी है। बहुत समय तक वामपंथ ने धर्म को क्रांति विरोधी मानकर उसकी निंदा ही की है। धर्म इंसानी समाज की जरूरत है और जरूरी नहीं कि इसकी भूमिका हमेशा पीछे देखूँ हो। इंसान अपनी परंपरा से पूरी तरह नहीं कट सकता। इसीलिए धर्म, परंपरा और संस्कृति का पूरी तरह विरोध करने की बजाए उसके समतावादी तत्वों को आगे बढ़ाना होगा तथा तथा पाखंड, अंधविश्वास, रूढ़िवाद, भाग्यवाद और गैरबराबरी जैसे तत्वों का प्रतिरोध करना होगा। आज सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन की जरूरत है जो व्यापक समतावादी क्रांति का हिस्सा बने।

नारी और जाति के सवाल

दिल्ली में 16 दिसंबर को चलती बस में सामूहिक बलात्कार की घटना के बाद देश में महिलाओं पर अत्याचार तथा महिलाओं के साथ भेदभाव को लेकर एक नई चेतना आई है। समाजवादी जन परिषद इसका स्वागत करती है। शायद पहली बार महिलाओं के सवाल मुख्यधारा के विमर्श का हिस्सा बने हैं। लेकिन नारीवादी आंदोलनों को

साधारण गरीब महिलाओं की आवाज बनना होगा तथा गरीबों, वंचितों के दूसरे आंदोलनों के साथ जुड़ना होगा, तभी समाज में छाई जकड़न और गैरबराबरी को दूर करने में मदद मिलेगी।

यही बात दलितों-पिछड़ों के आंदोलनों के बारे में सही है। वक्त के साथ जाति प्रथा कमजोर होने के बजाए मजबूत हो रही है। दलितों पर अत्याचार आज भी जारी हैं। फरक यह आया है कि अब दबी हुई जातियां अलग-अलग संगठित होकर विभिन्न शासक दलों से चुनावी टिकट और पदों की सौदेबाजी या हद से हद आरक्षण की मांग करने की राह पर चल रही हैं। इन जातियों के नेता जब ऊपर पहुंचते हैं तो वे भी स्वर्ण नेताओं की नकल करते हैं। वे भी धन इकट्ठा करते हैं, तथा शान-शौकत, व्यक्ति पूजा या जय-जयकार करवाने में पीछे नहीं रहते। दलितों, पिछड़ों, गरीबों व महिलाओं को मिलाकर मनुवादी-ब्राह्मणवादी व्यवस्था तथा समूची जाति प्रथा का ध्वंस करने और बराबरी पर आधारित नई व्यवस्था बनाने का मूल लक्ष्य कहीं दूर छूट गया है। इस लक्ष्य को फिर से सामने रखकर नए समाज के निर्माण के एक समग्र आंदोलन को बल देने की आज जरूरत है।

भाषा का सवाल

उच्च न्यायालयों व सर्वोच्च न्यायालय में भारतीय भाषाओं में कार्रवाई की मांग को लेकर छह महीने से चलाए जा रहे श्यामरुद्र पाठक के आंदोलन का समाजवादी जन परिषद समर्थन करती है। देश आजाद होने के 66 साल बाद भी इस देश का कामकाज गुलामी की विदेशी भाषा में चले, यह शर्मनाक है। पिछले कुछ समय से अंगरेजी का वर्चस्व कम होने की बजाए बढ़ रहा है, यह चिंता जनक है। समाजवादी जन परिषद का मानना है कि अंगरेजी को हटाकर भारतीय भाषाओं को स्थापित करना एक नए भारत का निर्माण करने और लोकतंत्र की सफलता के लिए जरूरी है। लेकिन सजप का यह भी मानना है कि अंगरेजी की जगह केवल हिंदी या प्रमुख भारतीय भाषाएं ही नहीं ले, बल्कि वे तमाम बोलियां भी लें, जो कि वास्तव में जनता की भाषाएं हैं। तभी जनता की सही भागीदारी, सशक्तिकरण और प्रभावी शिक्षा हो सकेगी। देश में इन स्थानीय व क्षेत्रीय भाषाओं-बोलियों को मान्यता दिलाने और स्थापित करने के जो आंदोलन चल रहे हैं, सजप उनको आह्वान करती है कि वे भी इकट्ठे होकर

इस संघर्ष को बढ़ाएं तथा भारत के निर्माण का हिस्सा बनाएं।

शिक्षा, सेहत, पानी आदि का निजीकरण तथा बाजारीकरण भारतवासियों की जिंदगी पर एक बड़ा हमला है। जन जीवन के हर हिस्से को बाजार के हवाले कर देना वैश्विक पूंजी द्वारा मुनाफाखोरी के नए मौकों की तलाश का हिस्सा है, जिससे गंभीर विकृतियां और संकट पैदा हो रहे हैं। आईपीएल की स्ट्रेबाजी का कांड एक ताजा उदाहरण है। खेल, शिक्षा, ज्ञान, सेहत, समाजसेवा, धर्म, राजनीति, प्रकृति सब उन्मुक्त बाजारवाद और मुनाफाखोरी के चंगुल में आते जा रहे हैं। इसके खिलाफ अलग-अलग स्तर पर मुहिम व लड़ाईयां शुरू हुई हैं, जिनका सजप समर्थन करती है और आह्वान करती है कि सारी लड़ाईयां मिलकर पूंजीवादी वैश्वीकरण पर चोट करें।

मौका आया है

समाजवादी जन परिषद मानती है कि देश व दुनिया के लिए यह एक नाजुक वक्त है। पूंजीवादी सभ्यता के संकट से और इसके साथ मोहभंग से एक नई, बेहतर, समतावादी दुनिया बनाने की दिशा में आगे बढ़ने का मौका आया है। इस मौके के इस्तेमाल के लिए दो बातें महत्वपूर्ण होगी। एक, वैचारिक स्पष्टता और विकल्प की दिशा के बारे में सफाई। इसके अभाव में बड़े-बड़े आंदोलन भटक सकते हैं या बिखर सकते हैं। दो, सारे जनांदोलनों, अभियानों, परिवर्तनकारी संगठनों, समूहों और व्यक्तियों को मिलकर इसे एक बड़ी लड़ाई की शक्ति देनी होगी। वे सारे लोग जो अलग-अलग मोर्चों पर लड़ रहे हैं या मुहिम चला रहे हैं या रचनात्मक काम कर रहे हैं, यदि वे चाहते हैं कि उनका लक्ष्य पूरी तरह हासिल हो, तो एक नई व्यवस्था बनाने के लिए उन्हें एकजुट होना होगा। भारत के संबंध में कह सकते हैं कि आजादी के आंदोलन से प्रेरणा लेते हुए, उससे आगे जाते हुए, एक नई आजादी की लड़ाई लड़ना होगा ताकि एक नया भारत बन सके। यह नया भारत समता, सादगी, स्वतंत्रता, लोकतंत्र, विविधता, बहुलता, विकेंद्रीकरण और नए विकास मॉडल पर आधारित होगा। इसकी लड़ाई भी अनिवार्य रूप से बहुआयामी, विविध तबकों की भागीदारी के साथ और मोटे तौर पर अहिंसक व लोकतांत्रिक होगी। समाजवादी जन परिषद सभी देशभक्त और मानवतावादी तत्वों से इसमें जुट जाने का आह्वान करती है।

गुस्सा

कामायनी

बिहार के अररिया और कटिहार जिलों में जनजागरण शक्ति संगठन नामक संगठन मनरेगा और दलितों-गरीबों के अन्वय मुद्दों पर सक्रिय है। इसकी प्रमुख कार्यकर्ता कामायनी के कुछ अनुभव।

मुंबई के टाटा समाज विज्ञान संस्थान से शिक्षा प्राप्त करने के बाद कामायनी बिहार के सुदूर पिछड़े इलाकों में जमीनी संगठन बना रही हैं। 'जनांदोलन के राष्ट्रीय समन्वय' की एक संयोजक हैं।

फोन :
09771950248
kamayani02
@yahoo.com

आज कल मैं लगातार गुस्से से भरी रहती हूँ। बहुत साल पहले जब यह गुस्सा मुझ पर हावी हुआ था तब मेरी मनोविज्ञान की एक मददगार शिक्षिका ने मुझे एक किताब पढ़ने के लिए दी थी – 'द डांस ऑफ एंगर'। इस किताब ने मेरे दिमाग पर गहरा असर किया था और मैंने एक मूल बात कुछ इस प्रकार ग्रहण की – "गुस्सा आना समस्या नहीं, उस की वजह को समझें, गुस्से को कैसे व्यक्त करते हैं यह समस्या हो सकती है!"

खैर बात यहां मेरे गुस्से की नहीं एक सामूहिक गुस्से के एहसास की है। मुझे ही नहीं, 'हमें' गुस्सा आता है और हम इस गुस्से को कैसे व्यक्त करेंगे?

मैं आपके सामने कुछ उदाहरण रखती हूँ कि हमें गुस्सा क्यों आता है और हम क्या करते हैं!

1 अप्रैल 2013

बढ़ती महंगाई के बावजूद बिहार सरकार मनरेगा मजदूरों की मजदूरी छः रुपये घटा देती है! सरकारी कर्मचारी और अफसर के वेतन और भत्ते इस समय बढ़ाए जाते हैं। यहां तक कि हाल ही में बिहार में पंचायत रोजगार सेवक जो कि मनरेगा कर्मचारी है उस का वेतन भी बढ़ाया गया। हमें सरकार की इस दो रंगी नीति पर गुस्सा आता है।

(हमारे साथी न दिन देखते हैं ना रात, ना गर्मी और न अंधड़। चार टीम अररिया, कटिहार और पूर्णिया जिलों में 'मजदूरी की जंग' के लिए एक यात्रा निकालती है और 1 मई, 2013 को हजारों लोग यादव कालेज, अररिया में 'मजदूरी की जंग' का एलान करते

हैं। 2 मई को संगठन के द्वारा दायर जनहित याचिका को पटना उच्च न्यायालय में स्वीकार कर लिया जाता है और 15 मई को कोर्ट का अंतरिम आदेश आता है कि राज्य सरकार मनरेगा मजदूरी को वापस 144 करे। हमारा गुस्सा कुछ शांत है!)

26 अप्रैल 2013

ग्राम पंचायत चितौरिया। बूढ़े टूटे लोग कड़ी धूप में पोखर में मिट्टी काट रहे हैं। हमारी साइकिल जब साईट के नजदीक पहुंचती है तो दूर से ही कुछ महिलाएं रोक कर हमें बताती हैं कि वो साईट पर काम नहीं कर रही है। अभी उन्हें घर चलाने का पैसा नहीं और मकई काटने में उन्हें रोज़ नगद पैसा मिल रहा है। साईट पर बातचीत में धीरे धीरे मजदूर खुलता है। उसे गुस्सा है कि अभी भी चार महीने पहले जो काम उन्होंने किया था उस का भुगतान उन्हें नहीं मिला है। हम लोग लिस्टें बनाते हैं, लगभर 60 लोगों का 4 से 9 दिन का भुगतान बाकी है। सरकार सबसे गरीब से उधार पर काम करवा रही है! गुस्से में लोग ढेरों बातें कहते हैं, वे उग्र हैं और मार पीट की बात बार बार उठती है!

27 अप्रैल 2013

हम फरियाद ले कर कटिहार डीएम के पास जाते हैं। महोदय, चितौरिया जैसी पंचायतों में जहां मजदूर जागृत है और संगठित हो कर काम मांग रहा है, पूर्व में बढ़िया काम कर के दिखा चुका है, वहां बड़े काम ठेकेदारों के माध्यम से ना करा कर मजदूर से मनरेगा में कराएं। आश्वासन मिला है हर बार की तरह, मैंने उसे

समेट कर अपने झोले में रख लिया है हर बार की तरह। आज ही और भी बातें सामने आई हैं। मोहनपुर पंचायत में पंचायत रोजगार सेवक ने लिखित में मेठ से जवाब मांगा है-“आपकी मिट्टी कम क्यों कटी है?” पंचायत रोजगार सेवक काम की जगह पर रह कर काम नहीं करते हैं। मेठ को कोई प्रशिक्षण नहीं, कार्यस्थल व्यवस्था के नाम पर कोई सहूलियत नहीं, पर मिट्टी नापी जाती है ‘सोने’ की तरह। काम मांगने पर पूरा काम नहीं मिलता, भुगतान आने में हफ्तों से महीनों लग जाते हैं और मिट्टी नापने में मजदूरी काटी जाती है, क्या हमारा गुस्सा होना वाजिब नहीं? वोट के लिए कानून बनाया जाता है और फिर उसे लागू करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं, क्या हमें गुस्सा नहीं आएगा? हैरत तो इस बात की है कि हमें इतना कम गुस्सा क्यों आता है?

7 मई 2013

कटिहार के एक साथी गुस्से में मुझे फोन करते हैं और बताते हैं कि सैकड़ों लोगों ने मनरेगा में काम मांगा था और आज जो मस्टर रोल निकला है उसमें आधे लोगों का नाम छूट गया है। आगे वह कहते हैं “हम कल ब्लाक जा रहे हैं”। स्पष्ट है कि गुस्से में मजदूरों ने ब्लाक के घेराव का निर्णय लिया है। अररिया से हम दो साथी अगले दिन दोपहर में ब्लाक पर पहुंचते हैं। सैकड़ों मजदूर धूप में ब्लाक की ओर बढ़ रहे हैं, हाथ में संगठन की झंडी, कई साइकिलें। बाकी सैकड़ों मजदूर कई किलोमीटर से पैदल बढ़ते आ रहे हैं। उनमें गुस्सा है, कुछ लोग कर्मचारी और अफसर को झाड़ने के लिए कड़वे शब्दों के साथ झाड़ू भी लाए हैं! गीत, गाने और नारों के बीच बातचीत भी हो रही है। पुलिस बल आया है, हमारे जैसे कुछ टूटे-फटे घरों के थोड़े पढ़े लिखे बच्चे इनके सिपाही हैं, क्योंकि गरीब मजदूर के पास इन नौकरियों के सिवा आराम की जिंदगी का कोई और रास्ता नहीं। बहुत कड़वी बातें कहीं जा रही हैं, लोगों का आक्रोश बस कल का नहीं सालों से हो रही नाइंसाफी का है। क्या हमें इंसान की तरह जीने का हक नहीं? क्या हमारे पास भी रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य

और शिक्षा की गारंटी नहीं होनी चाहिए?

14 मई 2013

अररिया प्रखंड कार्यालय में विकलांगता शिविर लगा है। शिविर में विकलांग लोगों को सर्टिफिकेट दिया जाएगा। आज हड्डी वाले डाक्टर बैठे हैं। सर्टिफिकेट के लिए एक पीला कार्ड दिया जाता है। यह कार्ड स्वास्थ्य विभाग के एक कर्मचारी के पास रहता है और इसे लाभुक को मुफ्त मिलना है, पर वह कर्मचारी हर कार्ड के लिए पचास रुपए वसूल कर रहे थे। दिन भर में 107 सर्टिफिकेट बने, 5350 रुपए की कमाई! क्या यह कमाई सिर्फ एक अदना कर्मचारी हड़प कर लेगा, इसमें औरों का हिस्सा कितना होगा? सबसे गरीब विकलांग से भी ये लोग चोरी करते हैं, ये कौन हैवान हैं? इस पर गुस्सा, दुःख सब कुछ एक साथ आता है!

अगले दिन विभोर और अरविंद पूरे दिन बैठ कर कैंप में मदद करते हैं और एक भी पैसे का लेन देन नहीं होता है, और 170 से अधिक लोगों का कार्ड बनाता है! पर क्या हर कैंप में ऐसे साथियों का बैठना संभव है?

15 मई 2013

फिर कहीं एक मेहनतकश मजदूर लड़ रहा है पंचायत तकनीकी सहायक से। एक बार फिर एक कर्मचारी को मिट्टी पूरी नहीं मिल रही, उसका कहना है मजदूर कोढ़िया है। हम कहते हैं कर्मचारी कोढ़िया है, वह कोढ़िया है जिसकी तनखा बेवजह बढ़ रही है, न कि वह मजदूर जो काम कर रहा है और सरकार उसकी मजदूरी घटा रही है। हर बार की तरह हम पूरी मजदूरी के लिए लड़ रहे हैं और बिना गुस्से के क्या कोई लड़ाई लड़ी जा सकती है?

ऐसे सैकड़ों किस्से हैं, पर जैसा मैंने कहा बस कुछ हाल के उदाहरण आपके सामने रख रही हूँ ताकि व्यवस्था से गुस्सा लोगों से जब आप मिलें, तो मेरी तरह आप भी शायद कह सकें, “मैं तुम्हारा गुस्सा समझ सकती हूँ, तुम लड़ो साथी, मैं तुम्हारे साथ हूँ।”



नियमगिरि को बचाने का संघर्ष

लिंगराज

ओड़िशा के नियमगिरि के जंगलों और आदिवासियों को वेदांत कंपनी के एल्युमीनियम प्रोजेक्ट से बचाने के संघर्ष में सर्वोच्च न्यायालय का एक महत्वपूर्ण फैसला आया है। इस प्रोजेक्ट के तहत ओड़िशा के कालाहांडी और रायगढ़ जिलों की सीमा पर स्थित नियमगिरि पर्वत श्रृंखला में बॉक्साइट (एल्युमीनियम का कच्चा माल) का खनन किया जाना है। स्थानीय आदिवासी इसका जम कर विरोध कर रहे हैं।

विगत 18 अप्रैल को सर्वोच्च न्यायालय की तीन सदस्यी पीठ (मुख्य न्यायाधीश अफताब आलम, न्यायाधीश के.एस. राधा कृष्णन और रंजन गोगोई) द्वारा सुनाए गए फैसले से इस संघर्ष में एक निर्णायक मोड़ आ गया है। इस खंडपीठ ने इस ऐतिहासिक फैसले में कहा है कि आदिवासी बहुल अनुसूचित इलाकों के लिए 1996 में पारित 'पेसा' कानून के तहत नियमगिरि के पहाड़ों में बसे आदिवासियों तथा पारंपरिक वनवासियों के व्यक्तिगत व सामुदायिक धार्मिक व सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा की जिम्मेदारी ग्रामसभा की है और इस संबंध में अंतिम फैसला लेने का अधिकार ग्रामसभा का है। देश के संविधान ने भी इसे स्वीकारा है। इस फैसले के मुताबिक ओड़िशा सरकार केन्द्रीय आदिवासी मंत्रालय के जरिए स्थानीय ग्रामसभा के सामने इस मुद्दे को रखेगी। इस विशेष ग्रामसभा के लिए ओड़िशा उच्च न्यायालय द्वारा नियुक्त दो जिला न्यायाधीश स्तर के पर्यवेक्षक रहेंगे। ग्रामसभा में जो फैसला होगा, उसके आधार पर केन्द्रीय वन एवं पर्यावरण मंत्रालय नियमगिरि पर्वतमाला में बॉक्साइट खदानों के बारे में अंतिम फैसला लेगा।

सर्वोच्च न्यायालय ने ग्रामसभा में फैसला कराने की प्रक्रिया को तीन महीने के अंदर निपटाने की हिदायत



दी थी। ओड़िशा सरकार ने और 6 सप्ताह का ज्यादा समय मांगा तथा 1 जून से ग्रामसभा बुलाने की प्रक्रिया शुरू की है। उच्च न्यायालय ने कालाहांडी और रायगढ़ के जिला न्यायाधीशों को अपने-अपने जिले में ग्रामसभाओं में उपस्थित रहकर निगरानी के लिए नियुक्त किया है। राज्य सरकार की ओर से ओड़िशा और आदिवासी भाषा कुई में अखबारों में विज्ञापन निकाले गए हैं। गांवों में पोस्टर लगाने के साथ ढिंदोरा बजाकर ग्राम सभा का ऐलान भी किया गया है।

लेकिन इस प्रक्रिया के तहत राज्य सरकार केवल 12 छोटे गांवों में ग्रामसभा करा रही है। इनमें कालाहांडी जिले के 5 एवं रायगढ़ जिले के 7 गांव हैं, जिनमें कुल 186 मतदाता हैं। इनमें से किसी गांव में तो एक या पांच-दस मतदाता ही हैं। ओड़िशा सरकार चालाकी से आदिवासी की बहुत छोटी बसाहट को गांव मानकर ग्रामसभा की रस्म अदायगी करने की कोशिश कर रही है। वास्तव में इस पर्वतमाला के इर्दगिर्द एक सौ से ज्यादा गांव हैं जहां करीब दस हजार आदिवासी और पारंपरिक वनवासी रहते हैं। ये सब इस प्रोजेक्ट से प्रभावित होंगे।

इस इलाके में 'नियमगिरि सुरक्षा समिति' ने 17 से 22 मई तक पहाड़ के चारों ओर गांव-गांव में तीन टोलियों में पदयात्रा का आयोजन किया। अंतिम दिन 22 मई के रायगढ़ जिले के मुनिमुड़ा प्रखंड मुख्यालय में दस हजार लोगों की रैली हुई। इस मौके पर मांग की गई कि नियमगिरि के इर्दगिर्द बसे सभी गांवों में ग्राम सभाओं का आयोजन हो नहीं तो आंदोलन ओर जोर पकड़ेगा। इस कार्यक्रम में नियमगिरि सुरक्षा समिति के अध्यक्ष कुमटी माझी, डंगरिया कंध आदिवासियों के प्रमुख नेता लद सिकक्का, बारि फसिकका और दधि

जाकेसिका के साथ समाजवादी जन परिषद के राज्य अध्यक्ष लिंगराज आजाद, सचेतन नागरिक मंच के संयोजक सत्य माहार, लोक संग्राम मंच के लक्ष्मीकांत स्वाई आदि सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने सक्रिय भूमिका निभाई। पदयात्रा समापन को सजप के राष्ट्रीय अध्यक्ष लिंगराज, लोकशक्ति अभियान के राज्य अध्यक्ष प्रफुल सामंतरा, भाकपा (माले - न्यू डेमाक्रेसी) के राज्य सचिव भालचंद्र और भाकपा के कालाहांडी जिले के सचिव दामोदर बेहरा ने भी संबोधित किया।

वेदांत कंपनी (जिसका मूल नाम स्टर्लाइट कंपनी है) शुरु से ही नवीन पटनायक की ओड़िशा सरकार की मिलीभगत से वन एवं पर्यावरण कानूनों का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन करके, झूठ-फरेब के सहारे, नियमगिरि के बाॅक्साइट को हथियाने की कोशिश कर रही है। प्लांट स्थल और खदान इलाके में कोई जंगल नहीं है- जैसे सरासर झूठ बोलकर कंपनी ने केंद्रीय पर्यावरण मंत्रालय की मंजूरी हासिल की है। स्थानीय आदिवासियों के आंदोलन और कुछ प्रतिबद्ध पर्यावरण-कार्यकर्ताओं के सतत हस्तक्षेप के फलस्वरूप 2006 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा नियुक्त केंद्रीय अधिकार प्राप्त समिति (सीईसी) ने नियमगिरि का दौरा करके कंपनियों की कारगुजारियों का पर्दाफाश किया। इस समिति ने जैव-विविधता से समृद्ध

इस पर्वतमाला में खनन को बंद करने की सिफारिश की।

लेकिन 2008 में सुप्रीम कोर्ट की एक खंडपीठ ने केंद्रीय खनन योजना एवं डिजाइन संस्थान रांची और भारतीय वन्यजीव संस्थान देहरादून की दो अलग रपटों को आधार बना कर खनन प्रोजेक्ट को मंजूरी देने का एक रास्ता निकाल लिया। वन्यजीव संरक्षण और स्थानीय आदिवासियों के कल्याण के लिए केवल 120 करोड़ रुपए की मदद देकर वेदांत की जगह स्टर्लाइट कंपनी खदान के लिए लीज ले सकेगी, ऐसा फैसला खंडपीठ ने दिया। यह विचित्र बात थी, क्योंकि दोनों एक ही कंपनी है।

2010 में फिर एक बार केंद्रीय वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने हस्तक्षेप किया। वन सलाहकार समिति की पहल पर पहले उषा रामनाथन की अध्यक्षता में तीन सदस्यीय समिति और बाद में एन.सी.सक्सेना की अध्यक्षता में चार सदस्यीय समिति ने वेदांत कंपनी द्वारा पर्यावरणीय शर्तों के उल्लंघन का स्पष्ट मामला पाया। इन समितियों की सिफारिश पर केन्द्र सरकार के वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने नियमगिरि में खनन के लिए वेदांत कंपनी को मिली पर्यावरण मंजूरी को रद्द कर दिया। इस बीच वेदांत कंपनी नियमगिरि पहाड़ में बाक्साइट खनन मंजूरी को सुनिश्चित मानकर लांजीगढ़ में एक एल्यूमिना रिफाइनरी का निर्माण कर चुकी है। नवीन पटनायक सरकार की

वेदांत : बरबादी फैलाती एक कंपनी

वेदांत कंपनी के नाम से प्रतीत होता है कि यह एक भारतीय कंपनी है। लेकिन दरअसल यह लंदन में पंजीकृत एक बहुराष्ट्रीय कंपनी है जिसका मालिक एक प्रवासी भारतीय अनिल अग्रवाल है। वह ब्रिटेन के सबसे अमीर लोगों में से एक हैं। यह स्टर्लाइट कंपनी के नाम से भी काम करती है।

वेदांत कंपनी मुख्य रूप से एल्युमीनियम बनाने वाली कंपनी है, लेकिन लोहा, तांबा, जस्ता और अब पेट्रोल के धंधे में भी उसने कदम बढ़ाए हैं। भारत के अलावा जांबिया, लाईबेरिया, दक्षिण अफ्रीका, नामीबिया, आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड और श्रीलंका में इसकी खदानें, शोधन संयंत्र और कारखाने हैं। भारत में ओड़िशा, छत्तीसगढ़, तमिलनाडू, राजस्थान और गोवा में इसका कारोबार है।

नियमगिरि के अलावा ओड़िशा के पुरी नगर के पास 9000 एकड़ भूमि में 1 अरब डालर की लागत से निजी विश्वविद्यालय बनाने का इसका प्रयास विवादों में रहा है। यहां भ्रष्टाचार और गैरकानूनी जमीन अधिग्रहण का मामला सामने आया है। गोवा और तमिलनाडू में इस कंपनी ने भारी प्रदूषण फैलाया है। विगत 23 मार्च को तमिलनाडू में तुतुकुडी शहर के पास स्टर्लाइट तांबा कारखाने से निकली गैस से एक मजदूर मर गया और सैकड़ों बीमार हो गए। 2007 से 2011 के बीच इस कारखाने में 16 मौतें हो चुकी हैं। जनता के विरोध प्रदर्शन के बाद 30 मार्च को तमिलनाडू सरकार ने इसे बंद कर दिया।

मदद से और झूठ-फरेब के सहारे वेदांत कंपनी ने शुरु के करार के मुताबिक दस लाख टन क्षमता को 6 गुना करने वाले चरण-दो के लिए भी पर्यावरण मंजूरी हासिल कर ली थी। पर्यावरण मंत्रालय ने इस मंजूरी को भी रद्द कर दिया। कंपनी ने कुछ महीनों तक बाहर से बाँक्साइट लाकर लांजीगढ़ प्लांट को चलाया। लेकिन दिसंबर 2012 से उसका उत्पादन बंद है।

ओड़िशा खनन निगम ने कंपनी की ओर से पर्यावरण विभाग के मंजूरी रद्द करने के फैसले के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में अपील की थी। उसी का फैसला 18 अप्रैल

को आया। ग्रामसभा को सर्वोपरि मानने के इस फैसले का आम तौर पर स्वागत किया गया। लेकिन कितनी और कौन सी ग्रामसभा, यह स्पष्टता इसमें नहीं है। इसी का फायदा उठाकर ओड़िशा सरकार दांव-पेंच खेलने की कोशिश कर रही है। नियमगिरि सुरक्षा समिति और आंदोलन के सहयोगियों ने भी इस दांव-पेंच को समझकर सरकार पर दबाव बनाने तथा लोगों को सतर्क करने का काम जारी रखा है।

- समता भवन, बरगढ़, ओड़िशा
फोन 09437056029

मारूति मजदूरों का दमन

सुनील कुमार

हरियाणा में मानेसर में स्थित मारूति सुजुकी कंपनी के कारखाने के मजदूरों के आंदोलन को दो वर्ष होने वाले हैं। यूनियन बनाने का जो कानूनी अधिकार संविधान में दिया गया है, मारूति सुजुकी के मजदूर उसके लिए प्रबंधन और श्रम विभाग से मांग करते आ रहे थे। जब उनकी बात को मारूति सुजुकी प्रबंधन और श्रम अधिकारियों ने अनसुना कर दिया तो मजदूरों ने अपने आखिरी हथियार हड़ताल का सहारा लिया।

पहली बार मारूति सुजुकी के मजदूर 4 जून, 2011 को हड़ताल पर गए। 13 दिनों के संघर्ष के बाद जब मारूति सुजुकी प्रबंधन और श्रम विभाग उनकी एकजुटता और मनोबल को नहीं तोड़ पाया तो आंदोलनरत मजदूरों के साथ समझौता किया। मारूति सुजुकी प्रबंधन और श्रम विभाग द्वारा समझौते के उल्लंघन पर मजदूरों ने दुबारा 28 जुलाई 2011 से 30 सितंबर 2011 तक हड़ताल की। इतने लंबी हड़ताल के लिए प्रबंधन ने मुकु यूनियन (मारूति सुजुकी के गुड़गांव प्लांट की यूनियन जो प्रबंधन के इशारे पर चलती है) की मदद ली और मुकु के सहयोग से 30 सितंबर को मजदूरों से आधे-अधूरे मन के साथ समझौता करा लिया। इस समझौते को भी प्रबंधन द्वारा नहीं माना गया और 3 अक्टूबर को प्रबंधन ने समझौते को तोड़ते हुए मजदूरों पर कार्रवाई की। मजदूर कंपनी के अंदर ही 7

अक्टूबर को शांतिपूर्वक धरने पर बैठ गए। 15 अक्टूबर को भारी पुलिस बल बुलाकर मजदूरों से प्लांट को खाली कराया गया। मजदूर बाहर धरने पर बैठ गए। 19 अक्टूबर को मारूति सुजुकी प्रबंधन और श्रम अधिकारियों द्वारा मजदूरों को गेस्ट हाउस में बुलाकर त्रिपक्षीय समझौता किया गया।

मजदूरों के जुझारू तेवरों से घबराकर मारूति सुजुकी प्रबंधन ने 18 जुलाई 2012 को षडयंत्र के तहत एक मजदूर को जातिसूचक गाली देकर निकाल दिया। मजदूरों के विरोध करने पर वार्ता के लिए यूनियन के पदाधिकारियों को बुलाया गया। वार्ता के बीच में ही प्रबंधन ने गुंडों को मजदूरों की वर्दी में बुलाकर मार-पीट करवाना शुरू कर दिया और आगजनी की कार्रवाई कराई गई, जिसमें एक एचआर मैनेजर की मृत्यु हो गई। इस घटना के सबूत को छिपाने के लिए सीसीटीवी के सभी फुटेज को बरबाद कर दिया गया और डेढ़ सौ मजदूरों को झूठे केसों में फंसा कर जेलों में डाल दिया गया।

18 जुलाई के षडयंत्र के बाद 546 स्थाई तथा 1800 ठेका मजदूरों को नौकरी से निकाल दिया गया। मारूति सुजुकी द्वारा इस तरह की गैर कानूनी एवं असंवैधानिक कार्रवाइयों पर हरियाणा सरकार और केंद्र सरकार भी मुहर लगा चुकी है। 18 जुलाई की घटना के

बाद मारुति सुजुकी के मानेसर प्लांट को एक माह से अधिक समय तक के लिए बंद रखना पड़ा था जिसमें मारुति सुजुकी को 70 करोड़ रू. प्रतिदिन का नुकसान होना बताया जा रहा है। दूसरी ओर 2013 की जनवरी-मार्च के तिमाही में मारुति सुजुकी ने 1147.5 करोड़ रू. का रिकॉर्ड मुनाफा कमाया। इस मुनाफे की नींव रखने वाले मजदूर जो कि 42 सेकेंड में एक कार तैयार कर देते हैं, उनकी हालत दयनीय होती जा रही है। इस घटना को 300 से अधिक दिन हो गए हैं। उस समय से अभी तक 147 मजदूर जेल में अमानवीय ज़िंदगी जी रहे हैं। उनके परिवार कोर्ट के चक्कर लगा रहे हैं। 300 दिन बाद भी गवाहों की जान का खतरा मानकर जमानत नहीं दी जा रही है। मजदूरों के खिलाफ गवाही देने वालों का नाम और पते गुप्त रखे गए हैं और उनको पहचान संख्या दी गई है और उनको बेस्ट बेकरी (गुजरात जनसंहार) केस के गवाहों जैसा खतरा माना गया है।

कथनी कुष्ठ, करनी कुष्ठ

मारुति सुजुकी के मजदूरों का आंदोलन श्रम कानूनों को प्राप्त करने के लिए था, जिसमें वे यूनियन बनाने, ठेकेदारी और अस्थायी मजदूरों को स्थाई करने के लिए आंदोलन कर रहे थे। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने 17 मई 2013 को भारतीय श्रम सम्मेलन के 45 वें उद्घाटन सत्र को संबोधित करते हुए कहा कि “न्यूनतम वेतन, पेंशन और श्रम कानून जैसे मुद्दों पर सरकार फिकरमंद है। सेंट्रल ट्रेड यूनियनों की मांगों से सरकार को कोई असहमति नहीं है।” इन्हीं मुद्दों को लेकर सेंट्रल ट्रेड यूनियन ने फरवरी में दो दिवसीय देशव्यापी हड़ताल की थी। प्रधानमंत्री जिस बात को लेकर अपने को फिकरमंद बता रहे हैं उसी बात के लिए मारुति सुजुकी के मजदूर लड़ रहे हैं। लेकिन उनको जेल में डाल दिया गया। लगभग 2500 मजदूरों को नौकरी से निकाल दिया गया। अगर सरकार फिकरमंद है तो चुप्पी क्यों? मारुति सुजुकी के मजदूरों का दमन क्यों किया जा रहा है? मनमोहन सिंह के नाक के नीचे दिल्ली के श्रमभवन पर मारुति सुजुकी मजदूरों पर हो रहे दमन के खिलाफ नागरिक संगठनों, मानवाधिकार संगठनों, छात्र संगठनों, ट्रेड यूनियनों, बुद्धिजीवियों द्वारा किए गए प्रदर्शन पर पार्लियामेंट थाने के दरोगा द्वारा प्रदर्शनकारियों के साथ बदसलूकी की गई और धमकाया गया। मनमोहन सिंह मंत्रिमंडल के ही गृह

राज्य मंत्री द्वारा राज्य सभा में बयान दिया गया कि इन प्रदर्शनों में माओवादियों का हाथ है।

आंदोलन नये चरण में

मारुति सुजुकी के मजदूरों ने अपनी एक स्वतंत्र यूनियन बनाकर और स्थाई, अस्थायी, ठेकेदारी मजदूरों को आपस में जोड़कर जो आंदोलन शुरू किया था उसके आगे बढ़ते हुए किसानों को भी अपने साथ जोड़ने का काम किया है। 24 मार्च, 2013 से कैथल में मजदूर अनिश्चितकालीन धरने पर बैठ गए जिसको आस-पास के गांववासियों व व्यापारियों का समर्थन मिला। 28 मार्च से 4 मजदूर अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठ गए। 3 अप्रैल को मुख्यमंत्री और उद्योगमंत्री ने मारुति सुजुकी मजदूरों को आश्वासन दिया कि मारुति प्रबंधन व श्रम विभाग को समस्या का शीघ्र समापन करने के निर्देश देंगे। इस आश्वासन के बाद मजदूरों ने भूख हड़ताल समाप्त कर दी। जिस तरह मारुति सुजुकी प्रबंधन द्वारा बार-बार मजदूरों से झूठे समझौते किए गए, उसी तरह हरियाणा सरकार का आश्वासन भी झूठा रहा। एक भी मजदूर जेल से बाहर नहीं आया और न ही एक भी मजदूर को काम पर वापस बुलाया गया। मजदूरों ने 8 मई को आयुक्त कार्यालय के सामने प्रदर्शन किया और महापंचायत की जिसमें कई गांव के सरपंचों ने शिरकत की। इस महापंचायत में निर्णय हुआ कि सरकार अगर 10 दिन में मजदूरों की मांगों पर ध्यान नहीं देती है तो 19 मई से उद्योगमंत्री के घर का घेराव किया जाएगा।

हरियाणा के मुख्यमंत्री हुड्डा साहब जो कि ‘संविधान और जनतंत्र’ की रक्षा का शपथ लेकर मुख्यमंत्री बने हैं, अपनी शपथ को भूल गए और ओसामू सुजुकी (मारुति सुजुकी के मालिक) को दिए गए वचन को याद रखा कि उनकी कंपनी को पूरा सुरक्षा दी जाएगी और कंपनी पर किसी तरह की आंच नहीं दी जाएगी। हुड्डा सरकार द्वारा इस वचन को निभाते हुए 18 मई की रात 11.30 बजे सोते हुए 100 मजदूरों और उनको समर्थन दे रहे लोगों को पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। 19 मई को जब मजदूर, उनके परिजन व मजदूरों को समर्थन दे रहे लोग कैथल पहुंचे तो उन पर लाठीचार्ज, पानी की बौछार और आंसू गैस के गोले दागे गए। महिलाओं, बच्चों, बूढ़ों को पुरुष पुलिसकर्मियों द्वारा बुरी तरह से पकड़ने के बाद इतना पीटा गया कि वे बेहोश हो गए। नीतीश नामक एक

युवक इस आंदोलन में भी नहीं था। वह अपने रिश्तेदार के घर जा रहा था, उसको भी पकड़कर पीटा गया और आईपीसी की संगीन धाराएं लगा दी गईं।

हुड्डा की सरकार शांतिपूर्वक धरने पर बैठे मजदूरों को ही नहीं बल्कि उनके परिजनों तथा उन्हें समर्थन दे रहे सामाजिक कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों को भी चुन-चुन कर गिरफ्तार कर रही है। 18 मई को श्यामवीर और अमित को गिरफ्तार कर कैथल जेल भेज दिया गया। अमित जेएनयू का शोधार्थी है। 19 मई को यूनियन के प्रमुख राम निवास, हिंदुस्तान मोटर्स संग्रामी श्रमिक कर्मचारी यूनियन कोलकता के दीपक बक्शी, मजदूर अखबार 'श्रमिक शक्ति' के संवाददाता सोमनाथ, हिसार के ग्राम पंचायत नेता सुरेश कोथ आदि कार्यकर्ताओं, पत्रकारों आदि को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया।

इन दमन के खिलाफ दिल्ली में 19 व 20 मई को सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी, मानवाधिकार संगठन, छात्र संगठन, ट्रेड यूनियनों ने मिलकर हरियाणा भवन और हुड्डा के निवास पर प्रदर्शन किया। प्रदर्शनकारियों में से 3 लोग जब भूपेंद्र हुड्डा के आवास पर गए तो उनका बयान बेहद गैरजिम्मेदराना, असंवेदनशील, सामंतों जैसा था। "तू कौन है, तू इंकलाबी संगठन से है तो मैं महाइंकलाबी हूँ, यू गो, मैं तुम से बात नहीं करूंगा, मैं मजदूरों का प्रतिनिधि हूँ, मैं मारूति मजदूरों से बात करूंगा" कह कर चले गए और ज्ञापन की पावती बार-बार मांगने

के बावजूद नहीं दी गई। यह भाषा जनतंत्र की है या गिरोह तंत्र की?

भारत का शासक वर्ग संविधान व जनतंत्र का गला घोट कर, लूटतंत्र में लगे पूंजीतंत्र की रक्षा करने में लगा हुआ है। पूंजीपतियों की ज्यादा से ज्यादा चाकरी करने के लिए शासक वर्ग में होड़ मची हुई है जिससे कि लूट में से कुछ हिस्से उनको भी मिल सके। तथाकथित लोकतंत्र के मुखौटे को भी उखाड़ कर फेंक दिया है और आए ओड़िशा, केरल, छत्तीसगढ़, झारखंड और देश के अन्य भागों में फर्जी मुठभेड़ और फर्जी केस के जरिये लोगों के आंदोलन को क्रूरतापूर्वक दबाया जा रहा है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में ही मजदूरों-किसानों पर रोज आए दिन जुल्म ढाए जा रहे हैं। नोयडा के अंदर गर्जियानो और निप्पोन की हड़तालों तथा फरवरी 2013 में हुए दो दिवसीय राष्ट्रीय हड़ताल के दौरान सैकड़ों मजदूरों को आज भी जेल में रखा गया है। उन मजदूरों की नौकरी छिन गई है और उनके परिवार भूखों मरने के लिए मजबूर हैं। ऐसी हालत में भगत सिंह का यह कथन और ज्यादा प्रासंगिक हो जाता है- "अगर कोई सरकार जनता को उसके मूलभूत अधिकारों से वंचित रखती है तो जनता का न केवल अधिकार ही नहीं बल्कि आवश्यक कर्तव्य भी बन जाता है कि ऐसी सरकार को तबाह कर दे।"

sunilkumar102@gmail.com

फोन: 09868563361

चुटका परमाणु बिजलीघर के खिलाफ संघर्ष

बाबा मायाराम

मध्यप्रदेश का चुटकी जैसा दिखने वाला गांव चुटका, अब देश-दुनिया में मिसाल बन गया है। यहां के मामूली से दिखने वाले लोगों ने अपनी ताकत से सरकार को झुका दिया है। भारी जन दबाव को देखते हुए चुटका परमाणु बिजलीघर की पर्यावरण मंजूरी के लिए 24 मई को होने वाली जन सुनवाई को स्थगित करना पड़ा। इसके लिए प्रशासन ने भारी खर्च करके सर्वसुविधायुक्त भव्य टेंट लगाया था लेकिन उसे उखाड़कर वापस ले जाना पड़ा।

जन सुनवाई स्थगित होने पर 24 मई को ही करीब दो हजार लोगों ने जुलूस निकाला। जुलूस में बड़ी संख्या में आदिवासियों ने हिस्सा लिया जिनमें बुजुर्गों से लेकर छोटे स्कूली बच्चे भी थे। चिलचिलाती धूप से बचने के लिए महिलाएं सिर पर गमछा बांधे थीं, कुछ महिलाएं गोदी में बच्चा भी लिए हुई थीं। लोगों ने विरोध जताने के लिए काली पट्टी बांधी हुई थी। तख्तियां लेकर चलने वाली महिलाएं हवा में हाथ लहराकर नारे लगा रही थीं। जुलूस के बाद एक जन सभा भी हुई जिसमें सभी ने

परमाणु बिजलीघर नहीं लगने देने का संकल्प दुहराया।

मंडला जिले में चुटका में परमाणु बिजलीघर प्रस्तावित है। 1400 मेगावाट क्षमता वाले दो परमाणु संयंत्र लगाने की योजना है। लेकिन स्थानीय जनता इसे किसी भी कीमत पर नहीं चाहती और पूरी ताकत से इसका विरोध कर रही है। उन्हें विस्थापन के दर्द का अहसास है। इस इलाके के डेढ़ सौ ज्यादा गांव 90 के दशक में बरगी बांध से उजड़ चुके हैं। न तो उन्हें पर्याप्त मुआवजा मिला है और न ही जमीन। वादे हमेशा की तरह वादे ही रह गए और गांव के गांव बरबाद हो गए।

यह अत्यंत निर्धन आदिवासी बहुल क्षेत्र है। पहाड़ और जंगलों के बीच आदिवासी रहते हैं। नर्मदा नदी और बरगी बांध के किनारे होने के बावजूद इनके खेत प्यासे हैं। बारिश की खेती करते हैं और जैसे-जैसे जलाशय का पानी खाली होता जाता है, उस जमीन में डूब की खेती करते हैं। खेतों में कोदो, कुटकी, ज्वार, मक्का जैसे मोटे अनाज होते हैं। लेकिन इससे गुजारा नहीं होता। बड़ी संख्या में इधर-उधर पलायन करना भी पड़ता है। एक बार फिर इन पर विस्थापन का खतरा मंडरा रहा है। लेकिन वे दुबारा विस्थापित होने के लिए तैयार नहीं हैं।

चुटका परमाणु बिजलीघर से तीन गांव विस्थापित होंगे और एक गांव को आवासीय कॉलोनी के लिए उजाड़ा जाएगा। करीब 20 किलोमीटर दायरे के कई गांव भी इससे प्रभावित होंगे। यहां के झनकलाल परते कहते हैं 'सरकार ने पहले हमें बरगी बांध से उजाड़ा और अब परमाणु बिजलीघर से उजाड़ने की तैयारी कर रही है। हम इसका विरोध करेंगे'।

इस परमाणु बिजलीघर का विरोध न केवल स्थानीय स्तर पर हो रहा है बल्कि जबलपुर व भोपाल के कई सामाजिक व जन संगठन विरोध के लिए सामने आ गए हैं। यहां इसके विरोध के लिए चुटका परमाणु संघर्ष समिति का गठन कर लिया है। उसके तहत कई विरोध प्रदर्शन व धरना किए जा रहे हैं। भोपाल के एक संगठन के कुछ नौजवान जनसुनवाई के एक हफ्ते पहले से गांव-गांव घूमकर लोगों में चेतना जगाने का काम कर रहे थे।

यहां की चुटका, कुन्डा व टाटीघाट की ग्राम पंचायतों ने भी प्रस्ताव पारित कर इसका विरोध जताया है। इस संबंध में राष्ट्रपति से लेकर संबंधित विभागों को इस परमाणु बिजलीघर की योजना रद्द करने का आग्रह किया गया है।

बरगी बांध विस्थापित संघ के राजकुमार सिन्हा कहते हैं कि हम इस परमाणु संयंत्र का विरोध बहुत दिनों से कर रहे हैं। लेकिन जापान में फुकुशिमा के बाद लोगों ने हमारी बात सुनी और अब तो गांवों में भी महिलाएं अपने प्रतिनिधियों व प्रशासनिक अधिकारियों से सवाल करने लगी हैं।

जन आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय से जुड़े चुटका परमाणु संघर्ष समिति को अपना समर्थन देने आए संदीप

पांडे कहते हैं दुनिया के कई देशों में जब परमाणु बिजलीघर बंद किए जा रहे हैं और नए संयंत्र नहीं खोलने के निर्णय लिए जा रहे हैं तब भारत में इन्हें खोलना, किसी भी तरह से उचित नहीं है। परमाणु संयंत्रों के खतरों से बचा नहीं जा सकता।

समाजवादी जन परिषद से जुड़े सुनील ने

अपना अनुभव सुनाते हुए कहा कि रावतभाटा में परमाणु संयंत्र के विकिरण से कैंसर और जन्मजात विकलांगता जैसी बीमारियां हो रही हैं। उन्हें इसका प्रत्यक्ष अनुभव है क्योंकि वे उसी इलाके से ताल्लुक रखते हैं।

आंदोलन को समर्थन देने के लिए जबलपुर आए भारत जन विज्ञान जत्था के राष्ट्रीय संयोजक व परमाणु विरोधी राष्ट्रीय मोर्चा, नई दिल्ली के डॉ सौम्या दत्ता का कहना है कि यह भूकंप की दृष्टि से अति संवेदनशील क्षेत्र है। न्यूक्लियर पावर कारपोरेशन ऑफ इंडिया तथा राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान (नीरी) नागपुर द्वारा तैयार रपट में इस बात को छुपाया गया है।

स्वयं सरकार की आपदा प्रबंधन संस्था, भोपाल द्वारा मध्यप्रदेश की भूकंप संवेदी क्षेत्रों का जो विवरण तैयार किया गया है, उसके अनुसार मंडला व जबलपुर अति संवेदनशील क्षेत्र हैं। उल्लेखनीय है कि 1997 में इसी क्षेत्र में बड़ा भूकंप आ चुका है, जिससे मकान ध्वस्त हुए



थे और कुछ मौतें भी हुई थी। इस खतरे को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

उनके मुताबिक इस परमाणु संयंत्र को प्रतिवर्ष करीब 7 करोड़ 25 लाख 76 हजार घन मीटर पानी की आवश्यकता होगी। इससे बरगी बांध की सिंचाई क्षमता घट जाएगी। सबसे बड़ा खतरा है कि जो प्रदूषणयुक्त पानी जलाशय में वापस छोड़ा जाएगा उससे जलाशय की मछलियों में विकिरण फैल जाएगा। प्रदूषित मछलियों को खाने व नर्मदा में पहुंचने वाले इस पानी को पीने से मनुष्य, पशु व फसलें विकिरण से प्रभावित होंगी। इससे कैंसर, विकलांगता जैसी

बीमारियां होने की आशंका है। ऐसा और भी अध्ययनों से स्पष्ट हो चुका है।

सवाल है कि परमाणु बिजली का विकल्प क्या है? जानकारों के मुताबिक इसके कई विकल्प मौजूद हैं। देश में सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, बायोगैस आदि में अकूत संभावनाएं हैं। फिर देश में जितना बिजली उत्पादन होता है उसमें परमाणु बिजली का ढाई से तीन फीसदी योगदान है। इसे छोड़ने से कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा। इस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए जिससे हम इन खतरों से बच सकें।

babamayaram@gmail.com

फोन: 09424437330

कम नहीं हैं झारखंड की महिलाएं

बरखा लकड़ा

आदिवासी समाज व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं से कई मायनों में भिन्न है। सबसे कम प्राकृतिक संसाधनों में अपनी जीविका चलाने वाले इस समाज से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। यह समाज समानता पर आधारित है और इसमें आदिवासी महिलाओं की स्थिति अन्य महिलाओं से बेहतर मानी जाती है। पारंपरिक स्वशासन व्यवस्था में ग्राम प्रधान महिलाओं को अलग-अलग नामों से संबोधित किया जाता है जैसे मांझी बुढ़ी, पड़हा राजा, डोकलोसोहर, मांझी आदि।

लेकिन पारंपरिक स्वशासन व्यवस्था में आदिवासी महिलाओं की भागीदारी के प्रश्न पर तथाकथित बुद्धिजीवी जो स्वयं को समाज की मुख्यधारा का हिस्सा मानते हैं, उन लोगों की अंगुलियां उठती रही हैं। फलस्वरूप महिलाओं की भागीदारी के सवाल पर पंचायती राज व्यवस्था के पक्ष में ही तालियों की गड़गड़ाहट सुनाई देती है और पंचायत व्यवस्था को ही महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने का सही विकल्प मान लिया गया है। इसके बावजूद तथाकथित विकास के संदर्भ में महिलाओं की भूमिका नगण्य दिखाई पड़ती है।

यह जरूर कहा जा सकता है कि झारखंड में पंचायत चुनाव होने से सत्ता में महिलाओं की भागीदारी बढ़ गई

है। लेकिन हकीकत यह है कि चुने हुए प्रतिनिधि स्वयं अपने हक के लिए लगातार सड़कों पर उतर रहे हैं। हां, इससे एक बात यह जरूर हुई है कि महिलाएं अपना हक और अधिकार लेने के लिए घर से बाहर तक आवाज उठा रही हैं।

आज हर क्षेत्र में आदिवासियों ने अपने श्रम व मेहनत से अलग पहचान बनाई है। चाहे वह राजनीति का क्षेत्र हो या चाहे कोई अन्य क्षेत्र हो, सभी जगह आदिवासी महिलाएं आगे बढ़ रही हैं। राजनीति में भी कई महिलाएं सक्रिय हैं। गीताश्री उरांव, गीता कोड़ा, बिमला प्रधान, सीता सोरेन, तथा जोबा मांझी जैसी अनेक आदिवासी महिलाएं आज विधायक हैं, जो अपनी भूमिका बखूबी निभा रही हैं। इनमें से कोई एक दूसरे से कम नहीं है।

आदिवासी महिलाएं धार्मिक मामलों में भी अपनी भूमिका बखूबी निभाती आई हैं। जैसे 'पाहन' जो गांव का पुजारी होता है, उसकी पत्नी पहनाइन 12 साल में एक बार आने वाली परम्परा 'जनी शिकार' के दिन अखड़ा जो आदिवासियों का सांस्कृतिक स्थल होता है वहां पर गांव की महिलाओं को इकट्ठा कर पूजा-अर्चना करती हैं, ताकि वो शिकार करने के दौरान विजय हासिल कर सके। यह परम्परा सदियों से चली आ रही है।

इस दिन आदिवासी महिलाएं मर्दों का लिबास पहनकर गांव-गांव में शिकार करती हैं। इस दिन गांव के लोग अपने-अपने मवेशियों को नहीं निकालते हैं। संयोगवश कोई मवेशी बाहर निकल जाता है। तो उसका शिकार महिलाएं करती हैं। इसमें लोग कुछ नहीं बोलते हैं। महिलाएं मुर्गा, मुर्गी, बकरी, बत्ख आदि का शिकार कर शाम को अखड़ा में इकट्ठा होती हैं। पहनाइन सभी महिलाओं के पैर धुलवाकर उनका स्वागत करती हैं। फिर शिकार में जाएं मांस को मिल-जुल कर पकाती हैं और खाती हैं तथा जश्न मनाती हैं। कर्मा में पहनाइन ही अखड़ा में 'जवा' चढ़ाती हैं और पूजा करवाती हैं।

सामाजिक क्षेत्र पर नजर डालें तो आदिवासी समाज खासकर के उरांव समुदाय में महिलाएं ही शादी करवाती हैं। शादी से पहले और बाद का रस्म वे ही निभाती हैं। खेती के वक्त वे ही पहला धान का बीड़ा रोपती हैं। पूजा करती हैं। रोपा गीत गाती हैं और रोपा लगाने वाली महिलाओं को प्रसाद के रूप में हड़िया तथा चना देती हैं। महिलाएं ही अनाज काटती हैं व ढोती हैं। इस तरह से कृषि कार्य भी पूरी तरह से महिलाओं के ऊपर निर्भर करता है। दूसरी ओर ये महिलाएं वन से महुआ बीनती हैं, जलावन के लिए लकड़ियां इकट्ठा करती हैं, दोना पत्तल बनाती हैं तथा अन्य वनोपज को इकट्ठा करने में इनकी बड़ी भूमिका होती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आदिवासी समाज की अर्थव्यवस्था को बनाए रखने

में महिलाओं की एक बड़ी भूमिका है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी आदिवासी महिलाएं अपनी कर्मठता का परिचय दे रही हैं। डॉ. रोज केरकेट्टा, प्रो. गुडिया, प्रो. गोडिया बाखला, डॉ. शांति खलखो जैसी आदिवासी महिलाएं शिक्षा के क्षेत्र में अपना योगदान दे रही हैं। इनमें से डा. रोज केरकेट्टा शिक्षा के साथ-साथ भाषा को बचाने के लिए भी काम कर रही हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी महिलाएं अपने पांव जमा रही हैं। जैसे पुष्पा टेटे झारखंड एक्सप्रेस में संपादक हैं। पूनम केरकेट्टा नेशनल टीवी में न्यूज रीडर के रूप में अपनी प्रतिभा दिखा चुकी हैं। मेरी सोरेंग रेडियो में कार्यक्रम निदेशक के पद पर कार्यरत होकर अपनी कर्तव्य निभा रही हैं। जल-जंगल-जमीन के संघर्ष में भी कई महिलाएं अग्रणी हैं। दयामनी बारला इनमें से एक है।

आदिवासी महिलाएं हो या गैरआदिवासी महिलाएं, दोनों ही देश तथा राष्ट्र का निर्माण करती हैं। पुरुषों से ज्यादा काम करती हैं। अब वे किसी से कम नहीं हैं, उन्होंने अपनी मेहनत व लगन से यह दिखा दिया है। उनमें नैतिक शक्ति, धैर्य, करुणा व दया जैसे मानवीय गुण हैं, जो एक बेहतर समाज के लिए जरूरी हैं। आज आदिवासी महिलाएं समाज के हर क्षेत्र में लगातार सशक्त होती जा रही हैं, पर उन्हें और अवसर उपलब्ध कराने की जरूरत है।

briakra27@gmail.com

सेहत के हक के लिए जेल

चिन्मय मिश्र

मध्यप्रदेश के आदिवासी बहुल जिले बड़वानी में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं बदहाल स्थिति में हैं। इस जिले में विशेषज्ञ चिकित्सकों की संख्या आवश्यकता से 75 प्रतिशत कम है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाने की दिशा में इस जिले में जागृत आदिवासी दलित संगठन लगातार संघर्ष करता रहा है। इसकी स्वास्थ्य रैलियों में पांच हजार से ज्यादा कार्यकर्ता शरीक होते हैं। पिछले दिनों संगठन की प्रमुख कार्यकर्ता माधुरी बहन को

सन् 2008 के एक लंबित मामले में गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। यहां इस बात का उल्लेख भी आवश्यक है कि स्वास्थ्य संबंधी इस मामले में पुलिस ने खात्मा (मुकदमा समाप्त) रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। न्यायालय ने तो माधुरी को जमानत दे दी थी, लेकिन उन्होंने न्यायालय में गांधीजी के चित्र को प्रणाम करते हुए झूठे मुकदमे में जमानत लेने से इंकार कर दिया और कहा कि वे जेल जाना पसंद करेंगी। अंततः उन्हें 15 दिन की न्यायिक

हिरासत में भेज दिया गया।

सामाजिक कार्यकर्ताओं पर अनेकों बार शासकीय कार्य में बाधा डालने के मनगढ़ंत आरोप लगाकर एकपक्षीय मुकदमा कायम कर लिया जाता है। उन्हें फरार बताकर उनके खिलाफ कोर्ट से वारंट निकाले जाते हैं और बाद में इसे एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया जाता है। माधुरी व साथियों को जिस मामले में फंसाया जा रहा है वह दूनो बाई नामक एक आदिवासी महिला का है। यह महिला अपने सास-ससुर के साथ जिले के मेणीमाता प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र में प्रसव हेतु पहुंची थी। प्रसव पीड़ा बढ़ने पर वहां मौजूद स्वास्थ्यकर्मियों द्वारा सहायता करने या एंबुलेंस आदि बुलवाकर किसी अन्य अस्पताल में भेजने के बजाए उसे बलपूर्वक स्वास्थ्य केंद्र से बाहर निकाल दिया गया। वो दर्द से कराहती किसी चौपाए की तरह चलती हुई चौराहे तक पहुंची। परिवार के पास पैसा भी नहीं था। चौराहे पर प्रसव की स्थिति बन जाने पर उसके ससुर ने अपनी धोती से आड़ की और प्रसव हुआ। इसी दौरान माधुरी एवं साथी संगठन की बैठक के सिलसिले में आगे कहीं जा रहे थे। भीड़ देखकर वे बस से उतरे और तुरंत स्वास्थ्य विभाग को खबर कर एंबुलेंस बुलाकर उसे अस्पताल रवाना किया तथा पुलिस को भी खबर की। इस मानवीय सहायता का परिणाम अंततः गिरफ्तार के रूप में सामने आया। यहां इस बात पर भी गौर करना आवश्यक है कि आरोपियों में पीड़ित महिला का पति भी था जो उस समय घटना स्थल पर मौजूद ही नहीं था।

बड़वानी जिला प्रशासन मनरेगा और अन्य घोटालों में गले-गले तक डूबा हुआ है और संगठन की सक्रियता से कुंठित है तथा लगातार पलटवार करने की कोशिश भी करता रहा है। पूर्व में एक बार वह माधुरी को जिलाबंदर करने का नोटिस देने और दूसरी बार उन्हें और उनके संगठन को नक्सलवादी ठहराने की नाकाम कोशिश भी कर चुका है।

झूठे मुकदमे लादने और उनका प्रतिकार दोनों ही कार्य आजादी के बाद से लगातार जारी है। मध्यप्रदेश में ही सन् 1989 में सुनील व राजनारायण को होशंगाबाद जिले के मोरपानी गांव (केसला) के विद्यालय में शिक्षकों की गैरहाजिरी को लेकर विकासखंड शिक्षा अधिकारी कार्यालय पर धरना दिए जाने को शासकीय कार्य में बाधा डालना माना गया और अपराध दर्ज कर लिया गया। उन्हें फरार दर्शाकर काफी दिनों बाद गिरफ्तार किया गया।

जमानत लेने से इंकार करने पर उन्हें जेल भेज दिया गया। वे लोग करीब 100 दिन जेल में रहे। इस दौरान मुकदमे की सुनवाई में उन्हें केवल 1 महीने की सजा सुनाई गई। समाजवादी कार्यकर्ताओं द्वारा गलत मुकदमों में जमानत की अर्जी न देना सामान्य हुआ करता था। बिहार में रोहतास के विधायक शिवपूजन सिंह ने ऐसे ही एक मामले में जमानत लेने से इंकार कर दिया था। वे करीब ढाई साल जेल में रहे। अंत में जब फैसला हुआ तो उन्हें मात्र 1 माह की सजा हुई थी।

माधुरी ने इस परंपरा को पुनः अपनाकर एक नई वैचारिक बहस को जन्म दिया है। सारे समाज को इस बात पर गंभीरता से विचार करना होगा कि झूठे मुकदमों और प्रशासन के इस तानाशाहीपूर्ण रवैये का प्रतिकार किस प्रकार किया जाए। गांधीजी ने भी चंपारण में जमानत लेने से इंकार किया था। उनके आदर्शों का पालन करने वाले आज पराधीनता की उसी विभीषिका को झेल रहे हैं, जिससे मुक्ति के लिए गांधी ने अपने प्राणों की आहूति दी थी। इस गिरफ्तारी के बाद जागृत आदिवासी दलित संगठन, जिसके कि शुल्क देने वाले 13000 सदस्य हैं ने मुख्यमंत्री को इस घटना के विरोध में ज्ञापन देने के लिए जिला प्रशासन से अनुमति लेकर रैली निकाली। करीब दस हजार कार्यकर्ता चिलचिलाती धूप और लू के बीच भूखे प्यासे दोपहर 1 बजे से कलेक्टर को ज्ञापन देने के लिए बैठे रहे, लेकिन वे नहीं आए। शायद उनमें इतना साहस ही नहीं बचा होगा कि वे इतनी सारी प्रश्नवाचक आंखों का सामना कर सकें। अंततः कार्यकर्ता उनके कार्यालय पर ज्ञापन चसपा कर लौट आए। 30 मई को फिर 2 हजार आदिवासी महिलाओं ने रैली निकाली और प्रशासन को 'महानिकम्मा होने का प्रमाणपत्र' दिया। इसी दिन माधुरी बहन जमानत पर बाहर आई।

यूपीए सरकार अपने 9 वर्षों के कार्यकाल की महान उपलब्धियों में राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन और जननी-शिशु सुरक्षा योजना के लाभों को गिनाते नहीं थकती, लेकिन बड़वानी जैसे आदिवासी बहुल जिलों में इसकी असलियत साफ नजर आती है।

सर्वोदय प्रेस सर्विस,
29, संवाद नगर नवलखा, इंदौर (म.प्र.)
फोन - 09893278855
chinmay.saroj@gmail.com

नया भारत बनाएंगे

समाजवादी जन परिषद का राष्ट्रीय सम्मेलन संपन्न

वाराणसी। किसान, मजदूर, महिला, आदिवासी, हम्मालों के संघर्ष के साथ रचनात्मक कार्यक्रमों से नए भारत के निर्माण के संकल्प के साथ 11 और 12 जून को वाराणसी में समाजवादी जन परिषद का राष्ट्रीय सम्मेलन संपन्न हुआ। राजघाट स्थित सर्वसेवा संघ परिसर में हुए सम्मेलन में देश भर से करीब 300 प्रतिनिधि शामिल हुए जो बिहार, ओडिशा, पश्चिम बंगाल, झारखंड, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, केरल, दिल्ली आदि राज्यों से आए थे। दो दिवंगत साथियों की स्मृति में विनोद प्रसाद सिंह द्वार और विश्वबंधु द्वारा बनाए गए थे।

सम्मेलन का उद्घाटन वरिष्ठ समाजवादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने किया। उन्होंने सजप को विपरीत परिस्थितियों में नई राजनीति को खड़ा करने वाला दल बताया। जब सोवियत संघ और चीन के पतन के बाद दुनिया में पूंजीवाद का बोलबाला हो गया था, जब सजप ने विकास की दृष्टि का सवाल उठाया था और पूंजीवाद-साम्यवाद की एकरूपता की बात उठाते हुए वैकल्पिक विकास पद्धति की जरूरत बताई थी। यह जरूरत आज और ज्यादा प्रासंगिक हो गई है।

इस मौके पर इंग्लैंड से आई 'फॉयल वेदांत' (वेदांत को असफल करो) समूह की प्रतिनिधि मिरियम रोज ने बताया कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों की करतूतों का विरोध लंदन में भी हो रहा है। ओडिशा में नियमगिरि पर्वत को वेदांत कंपनी के बाक्सईट खनन और एल्युमीनियम कारखाने से बचाने के आदिवासियों के संघर्ष में सजप की सक्रिय भागीदारी है। इसके नेता लिंगराज आजाद सजप की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य और ओडिशा इकाई के अध्यक्ष रहे हैं। वरिष्ठ रंगकर्मी कुंवरजी अग्रवाल तथा जनमुक्ति संघर्ष

वाहिनी के अरविंद अंजुम ने भी सम्मेलन को संबोधित किया।

सम्मेलन में पारित राजनैतिक प्रस्ताव में पतनशील भारतीय राजनीति, वैश्वीकरण, धार्मिक कट्टरता, सामाजिक गैरबराबरी आदि पर चौतरफे हमले पर जोर दिया गया। दुनिया में हो रही लोकतांत्रिक क्रांतियों का स्वागत करते हुए उनके साथ सामाजिक-आर्थिक ढांचे में बदलाव तथा वैकल्पिक विकास मॉडल को जरूरी बताया गया, नहीं तो ये क्रांतियां अधूरी रह जाएंगी। मध्यम वर्ग की सक्रियता का स्वागत किया गया, लेकिन इस वर्ग को वंचित-दलित तबकों की चिंताओं व मुद्दों से जुड़ना होगा।

समाजवादी जन परिषद ने जल-जंगल-जमीन को लेकर चल रहे जन-संघर्षों को समर्थन देने के अलावा भारतीय भाषाओं को लेकर श्यामरुद्र पाठक के आंदोलन के समर्थन में कार्यक्रम करने का फैसला किया है। 2 अक्टूबर से 8 मार्च तक महिलाओं के सवाल पर अभियान चलाया जाएगा। किसानों, दलितों, असंठित मजदूरों, शिक्षा, भ्रष्टाचार आदि के मुद्दों पर भी सतत कार्यक्रम लिए जाएंगे। रचनात्मक कार्यक्रमों में जीरो बजट खेती, वृक्षारोपण आदि पर जोर दिया जाएगा।

सम्मेलन के अंत में केरल के साथी जोशी जेकब को अगले दो वर्ष के लिए राष्ट्रीय अध्यक्ष और मध्यप्रदेश के सुनील को राष्ट्रीय महामंत्री के रूप में चुना गया। 21 सदस्यीय नई राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने अपनी बैठक कर लिंगराज (ओडिशा) और कमल बनर्जी (बंगाल) को राष्ट्रीय उपाध्यक्ष, निशा शिवूरकर (महाराष्ट्र) को संगठन सचिव, शिवाजी गायकवाड़ (महाराष्ट्र) को कोषाध्यक्ष एवं अफलातून (उत्तर प्रदेश), रंजीत राय (बंगाल) व लिंगराज आजाद (ओडिशा) को राष्ट्रीय सचिव बनाया गया।

—अफलातून

निर्माण और संघर्ष

65 फीसदी काम महिलाएं करती हैं

मध्यप्रदेश, इटारसी। महिलाओं के साथ होने वाले भेदभाव और अत्याचारों की जड़ें समाज के पुरुषप्रधान और पितृसत्तात्मक ढांचे में हैं। यह ढांचा शुरु से महिलाओं को कमजोर बना देता है। लेकिन महिलाएं किसी से कम नहीं हैं। दुनिया में जो भी काम होता है, उसमें कम से कम 65 फीसदी काम महिलाएं करती हैं। 10 फीसदी काम बच्चे करते हैं। पुरुष केवल 25 फीसदी काम करते हैं।

उक्त विचार नर्मदा बचाओ आंदोलन की नेता चित्तरुपा पालित ने महिलाओं की कार्यशाला को संबोधित करते हुए रखे। वे इटारसी में परशुराम भवन में 9 जून को आयोजित नारी जागृति मंच की कार्यशाला की मुख्य अतिथि थीं। कार्यशाला में करीब 75 महिलाओं और पुरुषों ने भाग लिया, जो मुख्य रूप से इटारसी के विभिन्न वार्डों से आए थे। केसला, पिपरिया, पाढ़र और घोड़ाडोंगरी से भी भागीदारी हुई।

कार्यशाला के पहले सत्र में 'महिलाओं पर

अत्याचार और भेदभाव क्यों?' विषय पर विस्तार से चर्चा हुई। इस सत्र में खुलकर विचार रखे गए। बेटी को पराया धन क्यों माना जाता है, घरजमाई बनना नित्कृष्ट क्यों माना जाता है, महिलाओं की पिटाई क्यों होती है, महिलाएं स्वयं महिलाओं को प्रताड़ित क्यों करती हैं, जैसे कई सवालियों पर चर्चा हुई।

दूसरे सत्र में नारी जागृति मंच के संगठन को मजबूत करने और भावी कार्यक्रमों पर चर्चा हुई। वर्तमान में इटारसी के 14 वार्डों में नारी जागृति मंच की इकाईयां बन चुकी हैं। शीघ्र ही पूरे 34 वार्डों में इसकी इकाईयां बनाने तथा आसपास के नगरों और गांवों में इसका संगठन बनाने का फैसला किया गया।

तीसरे सत्र में हरदा से आए वकील श्याम साकल्ले ने महिला संबंधी कानूनों की विस्तार से जानकारी दी। कार्यशाला में बीच-बीच में संघर्ष के गाने भी हुए। बीच में भोजन अवकाश में सबने अपने-अपने साथ लाया भोजन मिल बांट कर खाया।

- विद्या मिश्रा

वार्ता के लातीनी अमरीका अंक का लोकार्पण, गोष्ठियां

सामयिक वार्ता का पिछला अंक लातीनी अमरीका पर केंद्रित था। इसके प्रकाशित होने पर देश में कई जगह इसका लोकार्पण और इस विषय पर विचार गोष्ठियों के कार्यक्रम आयोजित किए गए।

पहला कार्यक्रम इटारसी में 28 अप्रैल 2013 को पत्रकार भवन में आयोजित किया गया। ओडिशा के किसान नेता लिंगराज, केरल के समाजवादी नेता जोशी जेकब और वाराणसी के साथी अफलातून ने लोकार्पण किया और गोष्ठी को संबोधित किया। वार्ता के सलाहकार कश्मीर उप्पल ने अंक की पृष्ठभूमि बताई।

दूसरा कार्यक्रम इंदौर में 12 मई को विसर्जन आश्रम में हुआ। इंदौर के वरिष्ठ वकील आनंदमोहन माथुर ने लोकार्पण किया। तपन भट्टाचार्य ने विषय प्रवेश किया और सुनील ने लातीनी अमरीका के प्रयोगों की जानकारी दी। सवाल-जवाब भी हुए। इंदौर के कई बुद्धिजीवियों

और सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ताओं ने इसमें भाग लिया।

तीसरा कार्यक्रम बिहार में मुजफ्फरपुर में 18 मई को हुआ। समाजवादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने लोकार्पण किया और गोष्ठी की अध्यक्षता की। सुनील ने लातीनी अमरीका के अनुभवों की विवेचना की। सवाल-जवाब ने मुद्दों को और साफ करने की मदद की।

चौथा कार्यक्रम 20 मई को पटना में गांधी संग्रहालय में हुआ। गांधी संग्रहालय के निदेशक रजी अहमद ने लोकार्पण किया।

पांचवां कार्यक्रम 2 जून को महाराष्ट्र में औरंगाबाद में हुआ। लोकार्पण के साथ ही 'लातीनी अमरीका के परिवर्तन एवं उसके सबक' विषय पर विचार गोष्ठी हुई। इस गोष्ठी को डा. सुजा शाकिर, डा. तनमय पैठणकर, लोकमत समाचार के संपादक अमिताभ श्रीवास्तव और सुनील ने संबोधित किया।

शिक्षा पर विचार गोष्ठियां

बिहार, समस्तीपुर। गत मई माह के तीसरे सप्ताह में शिक्षा से जुड़े सवालियों को लेकर विचार गोष्ठियों का आयोजन हुआ। बेगूसराय जिले के बलिया कस्बे में उच्च विद्यालय में 'भारत में शिक्षा:समस्याएं एवं समाधान' विषय पर गोष्ठी हुई। आर.एस.बी. इंटर महाविद्यालय समस्तीपुर में सामयिक वार्ता मंच द्वारा आयोजित विचार गोष्ठी का विषय 'उदारीकरण के बीस वर्ष और शिक्षा' था। परिवर्तनकारी शिक्षक संघ मुरौल, मुजफ्फरपुर द्वारा आयोजित विचार गोष्ठी का विषय 'बिहार में शिक्षा, दशा एवं दिशा' था।

गोष्ठी में मुख्य वक्ता के रूप में बोलते हुए समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एवं सामयिक वार्ता के संपादक सुनील ने कहा कि उदारीकरण की नीतियों का जनजीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। आज शिक्षा से संबंधित विज्ञापनों पर सबसे ज्यादा खर्च किया जा रहा है जो कि शिक्षा के बढ़ते बाजार को दर्शाता है। सरकार के स्तर पर केंद्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय एवं कस्तूरबा बालिका विद्यालय जैसे कुछ विद्यालय प्रतीक के रूप में खोले जा रहे हैं जिनमें जिले के स्तर पर कुछ सौ बच्चों को दाखिला मिलता है। प्रश्न है कि उन करोड़ों बच्चों के लिए क्या व्यवस्था है जिनका दाखिला इन विद्यालयों में नहीं हो पाता है। समाज में शिक्षा के मामले में कई स्तरों पर भेद किए जाते रहे हैं। उदारीकरण के दौर में यह भेदभाव और भी व्यापक हुआ है।

आजादी के बाद देश में शिक्षा के मामले में तीन

बातों पर सहमति बनी थी। पहला यह कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन लाया जाए एवं भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप इसे बनाया जाए। आजादी के पूर्व अंगरेजों द्वारा विकसित शिक्षा व्यवस्था साम्राज्यवादी हितों को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। आजादी के बाद महात्मा गांधी द्वारा बुनियादी शिक्षा की अवधारणा इसी परिवर्तन की कड़ी थी। दूसरी सहमति यह थी कि कोई भी बच्चा अनपढ़ नहीं रहेगा। संविधान में कहा गया था कि हर 14 वर्ष की उम्र के बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जानी चाहिए। तीसरी यह कि बच्चों को शिक्षा मातृभाषा में दी जाना चाहिए। लेकिन आजादी के लगभग छह दशक बीत जाने के बाद भी सरकार तीनों बिंदुओं पर असफल रही।

श्री सुनील ने प्राइवेट शिक्षण संस्थानों द्वारा पैदा की जा रही प्रतिस्पर्धा को अनुचित करार देते हुए कहा कि प्रतिस्पर्धा पूंजीवाद का मूल तत्व है जिसमें प्रतिभा को दबाया जाता है। यह बच्चों की प्रतिभा को कुंठित करती है।

इस मौके पर सजप के पूर्व राष्ट्रीय सचिव एवं एल.एस. कॉलेज के प्राध्यापक प्रमोद कुमार ने कहा कि सरकार शिक्षा को निजी हाथों में सौंपकर अपने दायित्वों से बचना चाहती है। गांधीवादी विचारक एवं पूर्व कुलपति तथा सांसद डा. रामजी सिंह ने कहा कि प्राचीन काल से शिक्षा एवं शिक्षक को सम्मान मिलता रहा है। लेकिन आज यह परंपरा टूटती जा रही है। —नवेन्दु प्रियदर्शी

खारक बांध में आदिवासियों पर जुल्म

मध्यप्रदेश, खरगोन। पिछले दिनों खरगोन जिले में खारक नदी पर प्रस्तावित बांध के प्रभावित ग्राम चौखंड में भारी पुलिस बल लगाकर खरगोन जिला प्रशासन ने निहत्थे आदिवासी महिला पुरुषों पर हमला किया और लाठियां बरसाईं। चौखंड गांव खरगोन जिले का भगवानपुरा तहसील में स्थित है। गत 25 अप्रैल को पुरुष द्वारा महिलाओं और बच्चों को घेरकर और घसीटकर वहां पीटा गया।

स्कूल जाने वाले बच्चों को भी बक्शा नहीं गया। इसके बाद 25 आदिवासियों को गिरफ्तार करके भगवानपुरा ले जाया गया और बांध का काम अवैध रूप से चालू कर दिया गया। जमानत देने वाले ग्रामीणों को भी पुलिस ने बिठा लिया।

उल्लेखनीय है कि खारक बांध में 7 गांव प्रभावित हो रहे हैं जो पूर्णतः आदिवासी हैं। इन गांव के आदिवासियों

के लिए शासन ने कोई पुनर्वास योजना लागू नहीं की है और बगैर पुनर्वास ही इन गांव के लोगों को भगाने की कोशिश कर रही है। दरअसल, इन गांवों में पट्टेधारियों के अलावा बहुत से आदिवासियों का पिछले कई दशकों से वन भूमि पर कब्जा है, जिस पर खेती कर वो अपना जीवन चला रहे हैं और जिन्हें अभी हाल में वन पट्टे भी दिए गए हैं। लेकिन इनके स्थापित अधिकारों को नजरअंदाज करके शासन इन्हें बिना पुनर्वास दिए हटाने को तुली है।

यह भी गौरतलब है कि बांध का काम चालू

करना पूरी तरह से अवैध है क्योंकि शासन को इस परियोजना के लिए वन मंत्रालय की कोई मंजूरी नहीं मिली है। यह आंदोलन जागृत आदिवासी दलित संगठन के बैनर तले हो रहा है। प्रदेश भर के अलग-अलग संगठनों ने शांतिपूर्ण रूप से आंदोलन कर रहे आदिवासियों पर शासन की इस बर्बरता की निंदा की है। समर्थन देने वाले संगठनों में होशंगाबाद का किसान आदिवासी संगठन, इटारसी का नारी जागृति मंच, नर्मदा बचाओ आंदोलन और कई अन्य संगठन शामिल हैं।

-हरसिंह गमरे

कर्नाटक में किसान नेता की जीत

कर्नाटक। कर्नाटक के विधानसभा चुनाव में किसान नेता के.एस. पुत्तनाय्या के चुनाव जीतने पर समाजवादी जन परिषद ने बधाई भेजी है और इसे जन आंदोलन तथा वैकल्पिक राजनीति की जीत बताया है। पुत्तनाय्या कर्नाटक राज्य रैय्यत संघ के प्रमुख नेता हैं। वे दिवंगत किसान नेता प्रो. एम.डी. नन्जुदास्वामी के निकट सहयोगी रहे हैं। पुत्तनाय्या सर्वोदय कर्नाटक पार्टी की ओर से मंड्या जिले के मेलुकोटे विधानसभा क्षेत्र से विजयी हुए हैं। पुत्तनाय्या पिछली बार भी इस क्षेत्र से सर्वोदय कर्नाटक के उम्मीदवार थे। लेकिन वे जीत नहीं पाए थे।

‘सर्वोदय कर्नाटक’ समाजवादी विचार की एक नई पार्टी है। इसका गठन कुछ साल पहले प्रो. नन्जुदास्वामी की मृत्यु के बाद कर्नाटक राज्य रैय्यत संघ, दलित संघर्ष

समिति तथा अन्य समाजवादी साथियों ने मिलकर किया था। देवानूर महादेव नामक प्रसिद्ध कन्नड़ साहित्यकार और मैसूर विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त प्रोफेसर इसके अध्यक्ष हैं। इसके गठन में समाजवादी चिंतक किशन पटनायक की भी प्रमुख भूमिका रही है। समाजवादी जन परिषद से इसका नजदीकी रिश्ता रहा है। कर्नाटक राज्य रैय्यत संघ देश के एक बड़ा किसान आंदोलन का नेतृत्व करता रहा है। समाजवादी जन परिषद ने एक बयान में कहा है कि इस जीत से देश में समाजवादी विचार के साथ वैकल्पिक राजनीति खड़ी करने और देश को मौजूदा पतनशील, देश विरोधी, जन विरोधी राजनीति से मुक्त कराने के प्रयासों को बल मिलेगा।

-अफलातून

विश्वबंधु को श्रद्धांजलि

बिहार, मुजफ्फरपुर। समाजवादी जनपरिषद, गांधी शांति प्रतिष्ठान और आचार्य नरेन्द्र देव अध्ययन केन्द्र के संयुक्त तत्वावधान में शशिकांत झा की अध्यक्षता में विश्वविभूति पुस्तकालय में 8 जून 2013 को शाम 5 बजे विश्वबंधु के निधन पर शोक सभा हुई।

प्रो.उदय शंकर ने अत्यंत रुंधे गले से कहा कि “जाना मुझे था मगर विश्वबंधु चले गए। विश्वास था कि वे मुझे अंतिम समय में कंधा देंगे।” नवीन ने विश्वबंधु को अपना सबसे बड़ा सहयोगी बतलाया। प्रो. अवधेश

कुमार ने विश्वबंधु को संकीर्णतावाद से बिलकुल अलग बतलाया। शमीम अहमद ने बताया कि विश्वबंधु जैसी शख्सियत बहुत कम पैदा होती हैं। इस मौके पर मुजफ्फरपुर के विभिन्न दलों के नेता, सामाजिक संठगनों के कार्यकर्ता तथा विश्वबंधु के सहकर्मी भी मौजूद थे। अरविंद वरूण ने विश्वबंधु की बीमारी में सहयोग देने वालों के प्रति आभार जताया। विश्वबंधु के पुत्र उत्तम आनंद भी मौजूद थे। 80 लोगों की उपस्थिति थी।

-जगत नारायण

औरंगाबाद की गतिविधियां

दुष्काल परिषद

हर हाथ को काम, हर गांव में पीने का पानी और जानवरों के लिए घास सरकार को उपलब्ध कराना चाहिए। यह मांग औरंगाबाद जिले के खुलताबाद में 2 मई को संपन्न हुई दुष्काल परिषद (अकाल सम्मेलन) में की गई।

समाजवादी जन परिषद और शेतकरी शेतमजदूर पंचायत की ओर से आयोजित इस सम्मेलन की अध्यक्षता सजप के प्रदेश अध्यक्ष सुभाष लोमटे ने की। प्रमुख अतिथि प्रो. शिवजी गायगवाड़, सुभाष गायकवाड़, विलास भोंगाडे, विष्णु ढोबले और अण्णा खंदारे थे। इस सम्मेलन में 11 प्रस्ताव पास किए गए जो पानी, जानवरों के भोजन, जमीन, मनरेगा, पेंशन और न्यूनतम मजदूरी से संबंधित थे।

इस आयोजन के लिए शेतकरी शेतमजदूर पंचायत के अध्यक्ष कासम भाई, रामचंद्र काले और हीराबाई पुरी ने काफी मेहनत की।

मई दिवस

मई दिवस पर औरंगाबाद में घरेलू कामगारों, कचरा

श्रमिकों, निर्माण मजदूरों, हम्मालों और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों ने सभा की। इसे कामगार उपायुक्त डीडी बांबोडे, सजप के प्रदेश अध्यक्ष सुभाष लोमटे, विलास भोंगाडे (नागपुर), कासम भाई, सुभाष गायकवाड़, रामराव जाधव आदि ने संबोधित किया। इस मौके पर जनश्री बीमा योजना के तहत छात्रवृत्ति का वितरण भी हुआ। 143 विद्यार्थियों को 600 रु. के चेक प्रदान किए गए।

राशन कार्ड के लिए प्रदर्शन

राशनकार्ड बनाने की मांग को लेकर 15 मई को औरंगाबाद जिलाधिकारी कार्यालय पर प्रदर्शन किया गया। सजप जिलाध्यक्ष देवीदास किर्तीशाही के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमंडल जिलाधिकारी को मिला। इसमें रामराव जाधव, आशाबाई डोके, रेहाना बेगम और कांताबाई जाधव भी शामिल थे।

जिलाधिकारी ने आश्चस्त किया कि सभी बस्तियों में 15 जून से केंप लगाकर राशन कार्ड बनाने का काम किया जाएगा।

—सुभाष लोमटे

छत्तीसगढ़ के बैगा जेल में

छत्तीसगढ़, बिलासपुर। जिले के कोटा विकासखंड के नकटाबांधा गांव के बैगा आदिवासी एक माह से ज्यादा समय से जेल में बंद हैं। उन्हें जंगल से लगी जमीन पर बेजा कब्जा करने के आरोप में जेल में डाल दिया है।

बैगा आदिवासियों का जीवन दिनों दिन कठिन होता जा रहा है। पहले ये लोग बांस के बर्तन व जंगल से अन्य चीजें लाकर अपनी गुजर बसर करते थे। लेकिन धीरे-धीरे जंगल में बांस की कमी हो गई है और बांस लाने पर भी रोक है। इस बीच परिवार भी बढे हैं और गुजारा करने के लिए कोई साधन नहीं है।

इन लोगों ने जंगल से लगी जमीन जहां कोई बड़े पेड़-पौधे नहीं हैं, वहां की सफाई करके खेती करना चाहा है। जिसे छत्तीसगढ़ का वन विभाग गैर कानूनी रूप से अतिक्रमण करने तथा जंगल के आरक्षित क्षेत्र में पेड़ों की कटाई का आपराधिक मामला मानता है। इस संबंध में उसने ग्रामीणों पर मामला दर्ज किया है और उन्हें जेल भिजवा दिया है।

इस गांव के लोग को पट्टा तो वन अधिकार समिति ने दिया है पर जिस जमीन में खेती की जाती है, वहां का पट्टा नहीं दिया गया है। समिति ने सिर्फ घर और बाड़ी के जमीन का ही पट्टा वितरण किया है। जिसमें गुजारा नहीं चल सकता है। जिनको पट्टा दिया भी है तो उस जमीन पर पत्थर के पहाड़ हैं। वहां किसी भी तरह से खेती नहीं की जा सकती है।

पट्टा वितरण करने की बात को लेकर गांव के लोगों ने एसडीएम, तहसीलदार, जिला कलेक्टर को भी आवेदन दिया है। जहां सिर्फ इनको आश्वासन ही दिया गया है। यहां तक कि ये बैगा आदिवासी मुख्यमंत्री से भी मिले। लेकिन कोई सुनवाई नहीं हुई और उन्हें जेल जाना पड़ा।

—प्रफुल्ल चंदेल

सभ्यता का संकट और निदान

सामयिक वार्ता के मार्च 2013 अंक में सच्चिदानंद सिन्हा का निबंध 'सभ्यता का संकट और विकल्प' पढ़ा है। बहुत ही सटीक एवं सही निरूपण है।

सच्चिदा जी हमारे युग के सर्वाधिक सुलझे हुए राजनीतिक मनीषी हैं जो राजनीति के तात्कालिक क्रियाकलापों एवं हलचलों में छिपे बुनियादी तत्वों की गहरी समझ रखते हैं और इस प्रकार सभ्यता के विभिन्न आयामों का सटीक विश्लेषण कर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रियाकलापों के लिए मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।

ज्ञान मूलतः पूर्ण एवं एक होता है जो इस संसार में आत्मगत एवं वस्तुगत रूप में प्रकट होता है और इसलिए जीवन की हर श्रेष्ठ उपलब्धि या ज्ञान भले ही आत्मगत रूप में प्राप्त होता है परंतु वह वस्तुगत रूप में ही प्रकटीकरण पाता है। अतः ज्ञान प्राप्त करने के दो मार्ग बन गए। एक आत्मगत जो अनुभवजन्य होता है दूसरा वस्तुगत जो तर्कनिष्ठ और प्रयोगजन्य प्राप्त होता है।

आत्मगत ज्ञान भारतीय संतों एवं मनीषियों का मार्ग है जो मनुष्य के समक्ष प्रकट रूप में विद्यमान प्रकृति, उसके नियमों एवं क्रियाकलापों के साथ साक्षात्कार अवलोकन एवं अनुभवजन्य होता है। जबकि वस्तुगत ज्ञान यूरोपीय तर्कशास्त्रियों एवं वैज्ञानिकों के प्रयोग से प्राप्त होता है। और जो आज के दौर में ज्यादा प्रभावकारी एवं समझ में आने वाला प्रतीत होता है।

सच्चिदा जी को निष्पत्तियां, यूरोपीय इतिहास, यूरोपीय तर्कशास्त्र एवं वैज्ञानिक प्रयोगों एवं प्रमाणों के आधार पर प्राप्त होती हैं या हुई है जबकि मुझे जो प्राप्त हुई है वह लोहिया, गांधी, भारतीय संतों एवं मनीषियों के आधार पर मिली हैं। इसलिए जब 8-10 वर्ष पूर्व मैंने अपने और सच्चिदा जी की अंतिम निष्पत्तियों में साम्य पाया तो बड़ा आनंद आया और तब से मैं सच्चिदा जी पर लिखना चाहता था।

कोई भी तात्त्विक ज्ञान या वैज्ञानिक ज्ञान पूरे मनुष्य जाति के लिए और पूरे संसार के लिए एक ही होता है। उसका प्रयोग अपने-अपने देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप अलग-अलग होता जिससे वह ज्ञान या सत्य

अलग-अलग नहीं होते हैं। इसलिए कोई भी व्यवस्था या सम्यता कोई एकदम नया और अलग विकल्प के रूप में नहीं होती वरन उसी का संशोधित एवं विकसित रूप होती है, जो नए रूप में कही जाती है। चूंकि हमारी दुनिया बहुत बड़ी है और अलग-अलग क्षेत्र या देश को भौतिक एवं मानसिक स्थितियां अलग-अलग होती हैं। अतः विचारधाराएं अलग-अलग क्षेत्रों की दिखाई पड़ने लगती हैं। जैसे मार्क्स यूरोपीय दिखाई पड़ते हैं जबकि गांधी और लोहिया एशियाई एवं भारतीय दिखाई पड़ते हैं। इसका बुनियादी कारण इतना ही है कि यूरोप और भारत या एशियाई वास्तविकताएं काफी अलग-अलग हैं और परस्पर विरोधी भी हैं। यहां एक बात साफ तौर पर उभरती है कि कोई एक नीति, कार्यक्रम एक समय में सभी मानव जाति के लिए कारगर नहीं हो सकती है। इस सत्य को नजरअंदाज कर जब हम कोई एक विचार, नीति एवं कार्यक्रम को पूरे संसार पर थोपते हैं तो बड़े पैमाने पर शोषण, लूट या हिंसा होती है या एक यूरोपीय जनित निष्क्रियता मिलती है जो आत्म संतुष्टि प्रदान करती है। अतः यहां दो निष्पत्तियां निकलती हैं कि मानसिक तौर पर मनुष्य का सोच हमेशा शाश्वत एवं नैतिक नियमों में व्यक्त होता है जो बहुत हद तक पूर्ण दिखाई पड़ता है। जबकि देश, क्षेत्र एवं अन्य परिस्थितियों की भारी विभिन्नता के कारण बहुत अलग-अलग तथा परस्पर विरोधी भी होता है। लेकिन जहां तक तात्त्विक एवं दार्शनिक तौर पर विचारधाराओं का सवाल है वे पूरे संसार एवं मानव जाति को प्रभावित करती हैं। यहां भी जान लेना आवश्यक है कि बहुत ही कम व्यक्ति दार्शनिक, तत्त्वज्ञ हुए हैं जो पूरे मानवजाति के लिए विचारधाराएं प्रस्तुत कर पाए। इसके लिए आवश्यक है कि विचारक को प्रकृति का, विज्ञान का, मानवीय स्वभाव का और देशकाल की सम्यक दृष्टि हो। इस श्रेणी में आधुनिक विचारकों में मार्क्स, गांधी और लोहिया आते हैं। जिन्होंने उपरोक्त तत्वों पर गहन समझदारी के द्वारा एक नई सभ्यता का प्रारूप पेश करते हैं।

भारत में दार्शनिक एवं तात्त्विक चिंतन की परंपरा बहुत लंबी रही है। यहां के संतों, मनीषियों एवं ऋषियों ने

मनुष्य से जुड़े सभी तत्वों पर बहुत ही गहराई से ज्ञान पाया है और भारतीय सभ्यता का निर्माण किया है। सबसे आधुनिक एवं संपूर्ण तौर पर शंकराचार्य ही प्रमुख हैं। इस संदर्भ में डा. लोहिया की शंकराचार्य एवं मार्क्स के बारे में जो दृष्टि है उसको समझना बहुत समीचीन होगा। लोहिया ने कहा कि शंकर और मार्क्स दोनों अद्वैतवादी हैं। किंतु दोनों के कट्टर एवं अतिवाद के कारण एक के व्यवहारिक पक्ष में तो दूसरे के आदर्श पक्ष में विकृतियां आईं उनको दूर कर आदर्श एवं व्यवहार में संतुलन लाने का प्रयास लोहिया ने किया। अतः वे शंकराचार्य एवं मार्क्स के नवीन संस्करण के रूप में याद किए जाएंगे। यहां शंकर आत्मगत ज्ञान के प्रतीक हैं जबकि मार्क्स वस्तुगत ज्ञान के। किंतु दोनों के अंतिम निष्पत्ति में साम्य है। आत्मज्ञान यानी चैतन्य से जुड़ाव और संसार में रहते हुए वैराग्य। दूसरे में वस्तुगत को इतना घनीभूत रूप से आदर्श मानना और उसका प्रबंध इस तरह से करना कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन पूर्ण नियंत्रित हो जाए जो कि सन्यासी जैसा हो जाए। दोनों में राज्यसत्ता विलोपित है।

पर्यावरण से हटने का असलीकरण उपशीर्षक में बड़ी ही नई जानकारी मिली है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। (1) ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीक के द्वारा संपन्न वर्ग या संपन्न देश हमेशा अपनी सुख सुविधा को बरकरार रखने के लिए संसाधन एवं तकनीक खोज लेंगे। और (2) यह कि कोई सुविधा और संसाधन सभी मनुष्य को एक समान या बराबर नहीं मिल सकती है। हमेशा एक क्षेत्रीय विषमता तथा वर्गीय एवं जातीय विषमता बरकरार रहेगी। इसको पाटते रहने का अभियान सदा चलता रहेगा। यही गतिशीलता का आधार भी है। यहां पर लोहिया की वह वाणी सिद्ध होती है जिसमें उन्होंने कहा था कि यूरोपीय लोगों की समृद्धि एशिया एवं अफ्रीका के शोषण से आई है और एशिया या भारत के लोगों को समृद्धि के लिए उपग्रहों को

खोजना होगा। डा. लोहिया इस शोषण के चक्र को तोड़कर नई व्यवस्था बनाना चाहते थे जो लूट और शोषण पर आधारित न हो। यहां पर हमें गांधी एवं भारतीय संतों एवं ऋषियों के चिंतन एवं प्रयोग की महता सही सिद्ध जान पड़ती है। जहां ऐश्वर्य एवं समृद्धि को सुख का आधार न मानकर त्याग, परस्पर प्रेम, संयम एवं श्रम आधारित कम्यून या जीवन शैली को माना गया है। अतः आज भारतीय संतों, ऋषियों, गांधी, लोहिया के चिंतन एवं प्रयोग के आलोक में आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक क्रांति के द्वारा हम अपनी जीवनशैली बदलकर इस संकट का मुकाबला कर सकते हैं। संकट के नाम पर घबराने की जरूरत नहीं है। उपभोग पर कड़ाई से नियंत्रण कर और ऊर्जा के नये स्रोतों को ईजाद कर हम इसका मुकाबला कर सकते हैं। खासकर सौर ऊर्जा के व्यापक उपयोग को नये विकास का आधार बनाना आवश्यक है।

मुझे पूर्णतः विश्वास है कि यह भारतीय व्यवस्था पुनः नये रूप में लौटकर आएगी, और सभ्यता का संकट दूर होगा।

- रविन्द्रनाथ चौबे,

99/2/4 रोड आदित्यपुर जमशेदपुर

लातीनी का अमरीका का महत्व

लातीनी अमरीका के बारे में और हुगो चावेज के बारे में वार्ता का मई अंक हकीकत पेश करता है। खास करके शिउली वनजा ने जिस तरह चावेज के समाजवाद के बारे में लिखा है, वह बहुत सराहनीय है। अशनारायण राय का लेख भी बहुत महत्व का है। वार्ता का यह अंक निश्चित ही संग्रहणीय है।

- भाई वैद्य

राष्ट्रीय अध्यक्ष, सोशलिस्ट पार्टी (इंडिया)
तोरणा, मनमोहन पार्श्वनाथ सोसायटी
बिबवेवाडी, पुणे (महाराष्ट्र)-411037

भूल सुधार

सामयिक वार्ता के पिछले अंक (मई-जून 2013) में पृष्ठ 67 पर 'एक जज ऐसा भी' में अंतिम पंक्ति में छपा था- 'नाटक करने के लिए पुलिस की अनुमति नहीं है।'

इसके स्थान पर होना चाहिए 'नाटक करने के लिए पुलिस की अनुमति की जरूरत नहीं है।'

-संपादक

समानता चाहिए, एकरूपता नहीं

‘क्या आप समाजवादी हैं? समाजवाद का क्या मतलब है?’ उन्होंने पूछा। फिर मेरे जवाब का इंतजार किए बगैर कहने लगे कि समाजवाद तो कभी आ नहीं सकता। प्रकृति में समानता नहीं है। कोई बड़ा है, कोई छोटा है। कोई छः रोटी खाता है, कोई चार रोटी खाता है। पांचों उंगलियां बराबर नहीं होती।

मैंने कहा कि हम इस तरह की समानता की बात नहीं कर रहे हैं। आप एकरूपता की बात कर रहे हैं, समानता की नहीं। समानता का मतलब है कि सबकी बुनियादी जरूरतें पूरी हों। चूंकि दुनिया के संसाधन सीमित हैं, इसलिए यह तभी हो सकता है, जब किसी के पास बहुत ज्यादा न हो। कोई बहुत अमीर और कोई बहुत गरीब न हो। वर्ग, जाति, लिंग, नस्ल या किसी अन्य आधार पर भेदभाव न हो। शोषण और अत्याचार न हो। पूंजीवाद दावा करता है कि उसमें सबको अवसरों की समानता है। मेहनत और योग्यता के बल पर कोई भी ऊपर उठ सकता है। लेकिन समाज में निहित गैरबराबर ढांचों के कारण यह समानता भी नहीं होती है। एक गरीब बच्चे, एक दलित बच्चे या एक लड़की को शुरु से कई तरह के भेदभावों और अभावों का शिकार होना पड़ता है। वे कैसे बराबरी पर प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं?

मैं उन्हें मार्क्स के आदर्श के बारे में बताना चाहता था— ‘सबको अपनी जरूरत के मुताबिक मिले और सबसे उनकी क्षमता के मुताबिक काम लिया जाए’। मैं उनसे यह भी पूछना चाहता था कि आज जिस तरह की घोर गैरबराबरी दिखाई दे रही है, क्या वह भी उनको कुदरती लग रही है? लेकिन वे मेरी बात ज्यादा सुनने के लिए तैयार नहीं थे। कहने लगे कि सबकी अपनी-अपनी योग्यता होती है। फिर कहने लगे कि लोग आलसी और कामचोर होते हैं। मैंने कहा कि किसान और मजदूर तो दिन-रात मेहनत करते हैं, फिर वे गरीब क्यों हैं? वे कहने लगे कि यह भाग्य की बात भी होती है। कोई सरकारी नौकरी में आया, कोई नहीं आ पाया। मैंने उन्हें इन बातों का अंतर्विरोध समझाने की कोशिश की। आप कहना क्या चाहते हैं? या

तो समाज में किसी व्यक्ति की हैसियत उसकी ‘योग्यता’ से तय होगी या उसकी ‘किस्मत’ से। किस्मत में नहीं होगा तो क्या वह अपनी काबिलियत से भी कुछ हासिल कर सकेगा? या वह काबिल होगा या नहीं, यह भी उसकी किस्मत में पहले से तय है? लेकिन मैं उन्हें समझाने में असफल रहा। वे अपनी बातें दुहराते रहे। फिर रेलगाड़ी पकड़ने का मेरा समय हो गया।

बहरहाल, इस चर्चा से कुछ बातें साफ हुईं। एक तो यह कि कैसे भाग्यवाद का इस्तेमाल गैरबराबरी और अन्याय पर आधारित मौजूदा व्यवस्था को उचित ठहराने के लिए किया जाता है। इस व्यवस्था में नीचे के पायदान पर स्थित लोगों के मन में यह बिठाने का काम भाग्यवाद करता है कि उनकी किस्मत में यही लिखा है। यह तो उनके पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। इसलिए कुछ नहीं हो सकता और वे रोते-कलपते इसे मंजूर करें। इन जनम के अन्यायों को बरदाश्त करते हुए अगले जनम में मुक्ति का इंतजार करें।

दूसरी बात यह है कि ‘योग्यता’ का भ्रम भी काफी व्यापक है। इन सज्जन ने जो उदाहरण दिया था, वही लें। सरकारी नौकरी में तो देश के एक फीसदी लोग भी नहीं होंगे। क्या बाकी सब लोग मेहनत करने पर भी सम्मानजनक जिंदगी के हकदार नहीं हैं? क्या देश के बहुसंख्यक लोगों को अयोग्य ठहराना उचित होगा? हमारी शिक्षा व्यवस्था, परीक्षा व्यवस्था और चयन परीक्षाएं यही करती हैं। वे जिस ‘योग्यता’ की जांच करती हैं, वह काफी एकांगी और सतही होती है। वे केवल किताबी ज्ञान को रटने और परीक्षा भवन में ढाई-तीन घंटे में उगल देने की क्षमता को ही योग्यता और प्रतिभा मानती हैं। लेकिन समाज को तो कई तरह की काबिलियत की जरूरत है— खेती की, पशुपालन की, मछली पकड़ने की, शिल्प और कारीगरी की, मिस्त्री और मैकेनिक की, खेल की, संगीत की, कला की, सेवा की। लेकिन इन सब विविध योग्यताओं और प्रतिभाओं को ठुकराकर, उनका तिरस्कार कर और उन्हें कुंठित कर केवल एक तरह की योग्यताओं को ही मान्यता

देना और पुरस्कृत करना कहां तक उचित है? इससे देश आगे जाएगा या पीछे?

किताबी ज्ञान को रटने की इस योग्यता में उच्च वर्ग और द्विज जातियों को स्वाभाविक रूप से फायदा मिल जाता है, क्योंकि वहां पीढ़ियों से यह काम हो रहा है और पारिवारिक माहौल होता है। फिर इस योग्यता को भी हासिल करने में कई तरह की योग्यताएं जुड़ जाती हैं—जैसे नकल की योग्यता, सिफारिश की योग्यता, महंगे स्कूल या महंगी कोचिंग की योग्यता, डोनेशन देने की योग्यता, घूस देकर नौकरी पाने की योग्यता। ये 'योग्यताएं' भी जैसे वालों और द्विज जातियों के पास ज्यादा होती हैं। इसलिए कथित 'योग्यता' कभी भी वस्तुनिष्ठ या निरपेक्ष नहीं होती है। वह वर्ग, जाति, लिंग और पृष्ठभूमि से तय होती है। एक आदर्श समाज वह होगा, जो यह मानेगा कि हर व्यक्ति में किसी न किसी तरह की योग्यता और प्रतिभा छुपी होती है। जरूरत उसे पहचानने, बचपन से प्रोत्साहित करने और विकसित होने का मौका देने की है। इन सभी विविध योग्यताओं को समान रूप से मेहनताना मिलना चाहिए।

विविधता की यह बात काफी महत्वपूर्ण है। कुदरत में काफी विविधता पाई जाती है, असमानता नहीं (जैसा कि वे सज्जन तर्क कर रहे थे)। इन दिनों जैविक विविधता को बचाने की चिंता व्यापक रूप से हो चली है। मानव समाज में भी काफी विविधता है। भारत जैसे विशाल देश में तो भाषा, धर्म, रीतिरिवाज, खानपान, पहनावे आदि की काफी विविधता है। इन सारी विविधताओं को समाप्त करके एक सांचे में ढालना समाजवाद का उद्देश्य नहीं हो सकता। ढालना संभव भी नहीं है और ऐसी कोई भी कोशिश तानाशाही को ही जन्म देगी। इससे असमानता, अत्याचार और असंतोष बढ़ेंगे। विविधताओं को सम्मान करके, उन्हें सुरक्षित करके ही, एक बेहतर समाज बनाया जा सकता है।

'विविधता में एकता' का नारा हम देते हैं। सच्ची एकता तभी हो सकती है, जब सभी विविधताओं का सम्मान हो और बराबरी की जगह मिले। इसीलिए 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' जैसे नारे खतरनाक हैं। अक्सर बहुसंख्यक तबका अपने धर्म, अपनी भाषा या अपने आग्रहों को दूसरों पर थोपने की कोशिश करता है। इससे असंतोष और अलगाववाद पनपता है।

इसी तरह 'विविधता में समानता' का सूत्र भी

महत्वपूर्ण है। भाषा, धर्म, संस्कृति की विविधता को रखते हुए भी अमीर-गरीब का भेद, जातिभेद, लिंग भेद या क्षेत्रीय विषमता को मिटाया जा सकता है। एक उदाहरण लें। मौजूदा शिक्षा व्यवस्था के विकल्प के रूप में 'साझा-समान स्कूल प्रणाली' (कॉमन स्कूल सिस्टम) का अभियान अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच चला रहा है। कई लोग इसे समझ नहीं पाते हैं। वे कहते हैं कि पूरे देश में एक-सी शिक्षा कैसे हो सकती है? वे दरअसल शिक्षा की एकरूपता की बात कर रहे हैं। यह इसका मकसद नहीं है। यह प्रणाली मानती है कि देश के अलग-अलग हिस्सों में स्थानीय परिवेश के मुताबिक पाठ्यक्रम अलग-अलग होगा। केवल राष्ट्रीय स्तर पर कुछ दिशा निर्देश होंगे। यह शिक्षा स्थानीय भाषाओं में होगी। इसी तरह शिक्षा के तरीकों में अपने हिसाब से फेरबदल और प्रयोग करने की छूट भी स्कूलों और शिक्षकों को होगी। बल्कि उन्हें ऐसे प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। जिस चीज की मनाही होगी, वह है अमीर-गरीब, जाति के आधार पर या लड़का-लड़की के लिए शिक्षा में भेद। उनके लिए अलग-अलग शिक्षा नहीं होगी। एक गांव या शहर के मुहल्ले के सारे बच्चे अनिवार्य रूप से एक साथ पढ़ेंगे। कृष्ण और सुदामा एक साथ पढ़ेंगे। तथा सारे बच्चों को बिना भेदभाव के गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिल सकेगी। दुनिया के जिन देशों ने अपनी पूरी आबादी को शिक्षित करने में सफलता पाई है, किसी न किसी तरह की साझा-समान स्कूल प्रणाली से ही पाई है।

समानता और एकरूपता एक चीज नहीं है। विविधता और विषमता में फरक करना चाहिए। कुछ भ्रांतियां इनमें फरक नहीं करने के कारण पैदा होती हैं। इसके लिए कुछ हद तक पिछली सदी के साम्यवादी प्रयोग भी जिम्मेदार हैं, जिन्होंने विविधता को पर्याप्त सम्मान नहीं दिया और देश को एक ढांचे में ढालने की कोशिश की। यह उनकी प्रमुख कमजोरी भी बनी।

मामला साफ करने के लिए सुझाव है कि दुनिया को बदलने की इच्छा रखने वाले जब फ्रांसीसी क्रांति के सूत्र 'स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व' को दुहराएं तो उसके साथ विविधता और विकेन्द्रीकरण को भी जोड़ दें।

-सुनील

आखिरी पन्ना

एक खत नक्सल साथियों के नाम

- अनुराग मोदी

मेरे मन में विगत कुछ समय से कई सारी बातें उमड़ रही हैं। मैं इस पत्र के माध्यम से अपनी इस बैचैनी और मन की उथल-पुथल को आप तक पहुंचाना चाहता हूँ।

सबसे पहले, मैं आदिवासी समुदाय के साथ काम के अपने अनुभव की बात करूँ। अपनी सत्ता स्थापित करना और फिर उसमें लोगों को सत्ता के नियम से जीना सिखाना या मजबूर करना, यह बात उनकी मूल सोच से ही मेल नहीं खाती। आदिवासी समुदाय एक संतोषी समाज है, उसमें अपार क्षमता है लेकिन लालसा जरा भी नहीं। वो अपनी जरूरत के अनुसार जमीन जोतता है, अपनी जरूरत भर के कपड़े पहनता है और जरूरत भर के संसाधन अपने पास रखता है। लेकिन वह आजादी जरूर चाहता है। अपनी मर्जी के अनुसार जीने की आजादी।

अब दूसरी बात हम देखें कि किस तरह से समय के साथ आंदोलनों की रणनीति में परिवर्तन आए। पहले हम फिलीस्तीन की बात करें। फिलीस्तीन में 1930 के आसपास प्रदर्शनों, धरनों, रैलियों का दौर यहूदी लोगों की बढ़ती बसाहट के साथ ही शुरू हो गया था। जब 1933 में एक रैली के दौरान ब्रितानी घुड़सवार सिपाहियों की लाठियों से घायल होने के बाद प्रसिद्ध नेता 81 वर्षीय मुसा अल हुसैन कासिम का इंतकाल हो गया, तब फिलीस्तीन आंदोलन ने हिंसा की राह पकड़ ली। फिलीस्तीन में शुरू हुआ हिंसात्मक आंदोलन का दौर लगभग 7 दशक तक अविरोध जारी रहा। इस दौरान फिलीस्तीन गुरिल्ला युद्ध ने नई ऊंचाईयां छुईं। लेकिन इसी फिलीस्तीन आंदोलन में, विगत 5-6 सालों से अब विरोध के अहिंसात्मक तरीके ढूंढने की कोशिश तेज हुई है। वहां न सिर्फ बड़ी रैलियों का दौर चल रहा है बल्कि इजराइल की जेलों में 10 हजार फिलीस्तीनी कैदी भूख हड़ताल तक कर रहे हैं।

जम्मू और कश्मीर में भी आतंकवाद और आत्मघाती हमलों के बाद अब महीनों चलने वाली

रैलियों का दौर शुरू हो गया है। इन रैलियों में पत्थरबाजी जरूर होती है, लेकिन बंदूक के मुकाबले यह अहिंसक ही है।

फिर मेरी नजर भगतसिंह और उनके साथियों पर पड़ती है। किस तरह समय के अनुसार उन्होंने सांडर्स की हत्या से लेकर असेंबली में बम फेंकने और जेल में भूख-हड़ताल तक अपनी रणनीति को बदला। 8 अप्रैल 1929 को दिल्ली की केन्द्रीय असेंबली में फेंके बम ने ब्रितानी हुकूमत के एक भी नुमाइंदे को किसी भी तरह से हताहत नहीं किया, लेकिन फिर भी उस अहिंसात्मक बम की गूंज आज तक सुनाई दे रही है। इसके बाद कोर्ट में दिए जवाब और जेल में चली लंबी भूख-हड़तालों ने क्रांतिकारियों को देश के जनमानस में स्थापित कर दिया और अचानक भगतसिंह का कद गांधी के समकक्ष हो गया।

अंत में, हम अरब देशों में आए वर्तमान बदलाव के दौर को देखें। किस तरह दशकों की हिंसा से ग्रस्त इन देशों में लोग बंदूकों और तोपों के सामने निहत्थे सड़कों पर उतरे। सब तरफ भयानक उथल-पुथल है। इस ऐतिहासिक समय में आप दुर्गम और दूरस्थ इलाकों में बैठकर, युद्ध लड़कर अपनी ऊर्जा जाया न करें। आज जरूरत है फिलीस्तीन से लेकर कश्मीर तक बह रही बदलाव की हवा का सम्मान करने का। मेरा अनुरोध है कि आप लोग भी अपनी रणनीति पर पुनः विचार करें। जिस तरह भगतसिंह से लेकर आज फिलीस्तीन के आंदोलनकारियों की बदलती रणनीति के चलते सरकारी दमन एकतरफा पड़कर सबके सामने गंगा हो गया और इन क्रांतिकारियों के विचार पूरी दुनिया को मालूम पड़े, उसी तरह आपके रणनीति परिवर्तन से सरकार की सारी युद्धात्मक तैयारी धरी की धरी रह जाएगी। इससे न सिर्फ आदिवासी एक गृह-युद्ध की आग से बच जाएंगे, बल्कि आप जैसे समर्पित विचारों के समूहों के अपनी रणनीति में बदलाव लाने से व्यापक व्यवस्था परिवर्तन का रास्ता आसान होगा।